CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4274

4274

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन-सन्देश

(शोधाङ्क)

३१

दोवर्ष ३से

प्रकाशक :

श्री भा० दि० जैन संघ, मथुरा.

२८ दिसम्बर, १९७२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शोधांक - सम्पादक :
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
ज्योति - निकुञ्ज, चारबाग,
लखनऊ—१

प्रकाशक :
श्री भा० दि० जैन संघ,
चौरासी-मथुरा।

अनुक्रमणिका

क्र० सं०	विषय		लेखक	पृष्ठ
१.	गुरुगुणकीर्तन—पूज्यपाद देवनन्दि	...		२८९
२.	जैनकला संगोष्ठी-सार	...	डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२९०
	१—जैन प्रतिमा विधान का प्रारम्भ	...	डा० यू० पी० शाह	२९१
	२—रा०सं०लखनऊ की कुछ जैनमूर्तियाँ	...	श्री वी० एन० श्रीवास्तव	२९५
	३—मथुरा के जैनआयागपट्ट-एक व्याख्या	...	श्री आर० सेन गुप्ता	२९६
	४—जैनसाहित्य पुस्तकीकरण की पृष्ठभूमि	...	डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२९७
	५—प्रतिमा सर्वतो भद्र	...	श्री डी० वी० पाण्डे	२९८
	६—नन्द्यावर्त प्रतीक	...	श्री पी० के० अग्रवाल	२९९
	७—जैनकला एवं स्थापत्य	...	श्री एल० सी० जैन	३००
	८—रायपसेणिय में जैनकला	...	श्री आर० सी० शर्मा	,,
	९—गंगकालीन जैन मूर्तियां	...	श्री एम० ए० ढाकी	,,
	१०—म० प्र० के जैन कला केन्द्र	...	प्रो० के० डी० वाजपेयी	३०१
	११—जैनकला में जैन प्रवणता	...	श्री माइखेल नीइस्टर	३०२
	१२—कुछ विचारणीय तथ्य	...	डा० शशिकान्त जैन	३०३
	१३—बादामी की जैन गुफा	...	मी एस्चिबन लिप्पे	३०४
	१४—समापन भाषण	...	डा० मोतीचन्द्र	३०५
३.	शोधकण	...	डा० ज्योतिप्रसाद जैन	३०९
	१—जैन गुफाएं तथा गुफा मन्दिर	...	,,	३०९
	२—जैनभित्ति चित्र	...	,,	३१०
	३—बलगेरिया की जैन प्रतिमा	...	,,	३११
४.	शोधसार	...	,,	३१३
५.	शोक संवेदन	...	,,	३१५
६.	भूलसुधार	...	,,	३१६
७.	साहित्य परिचय एवं प्राप्ति स्वीकार	...	,,	३१७

विज्ञप्ति

शोधाङ्क में प्रकाशनार्थ लेखादि, समालोचनार्थ पुस्तकें, परिवर्तन में प्रेषित पत्र-पत्रिकाएं, तथा शोधाङ्क सम्बन्धी समस्त पत्र-व्यवहार शोधाङ्क सम्पादक के नाम लखनऊ के उपरोक्त पते पर भेजे जांय। विद्वान लेखक महोदयों से प्रार्थना है कि जैन इतिहास पुरातत्त्व, साहित्य एवं संस्कृति से सम्बन्धित अपने मौलिक एवं अप्रकाशित शोध-खोजपूर्ण लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों मे लिखकर भेजें और प्रेषित लेखों की प्रति अपने पास अवश्य रख लें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'संघं लाभमिम सारभूय', 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'

श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ का मुखपत्र

जैन-सन्देश

शोधाङ्क—३१

सम्पादकः—

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री — वाराणसी
डा० ज्योतिप्रसाद जैन — लखनऊ
डा० दरबारीलाल कोठिया — वाराणसी

भाग संख्या ४२ | मथुरा–गुरुवार, २८ दिसम्बर १९७२, पौष कृ० ८ वी०नि० सं० २४९९ | मूल्य १ प्रति ७५ न०पै०

गुरुगुणकीर्तन

पूज्यपाद देवनन्दि

जीयात्सोऽत्र जिनः समस्त विषयः श्री पादपूज्योऽमलो ।
भव्यानन्दकरः समाधिशतक श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ।।

(समाधितन्त्र टीकायां प्रभाचन्द्रः)

भरदि जैनेन्द्रं भासुरं एनल् आॅरेदं पाणिणीयक्के टीकुंबरेदं
तत्त्वार्थम् टिप्पणदिम् श्रारपिदं यन्त्रमन्त्रादि शास्त्रोक्त करयं
भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमुं तालिददं विश्वविद्याभरणं भव्या-
लियाराधित पदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम् ।।

(कन्नड़ धर्मपरीक्षायां कृति विलासः)

इदु सकल आदिम जिनेन्द्रोक्त सिद्धान्तपयः पयोधिपारग
श्री पूज्यपाद मुनीन्द्र चारु-चरणारविंद-गंध-गुणनंदित मानस
श्री मदखिलकलागमोत्तुङ्ग मंगविभु रचतिमप्य खगेन्द्रमणि-
दर्पण..." (खगेन्द्रमणिदर्पणे मंगराजः)

'शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे' (नियमसार टीकायां पद्मप्रभः)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4274

जैन-कला-संगोष्ठी-सार

—डा० ज्योतिप्रसाद जैन

गत जनवरी १९७२ के अन्तिम सप्ताह में लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में जैनकला प्रदर्शिनी एवं द्वि दिवसीय जैनकला संगोष्ठी का आयोजन हुआ था। आयोजन बड़ा रोचक एवं सफल रहा, विशेषकर जैन मूर्त्तकला और प्रतिमा विधान (आइकोनोग्राफी) के अध्ययन के लिये अतीव उपयोगी रहा।

इस संग्रहालय में प्राचीन जिन-मूर्तियों एवं अन्य जैन कलाकृतियों का उत्तम संग्रह, जो उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। इनमें भी सर्वाधिक संख्या मथुरा के कंकाली टीले तथा अन्य भागों से प्राप्त शुंग-शक-कुषाण-गुप्त काल की जैनकलाकृतियों की है। प्रदर्शिनी में यह समस्त सामग्री ऐसी उत्तमरीत्या प्रदर्शित की गई थी कि जिससे जैनकला एवं जैन प्रतिमाविधान के क्रमिक विकास का सहज ज्ञान हो सके। पाषाण निर्मित कलाकृतियों के अतिरिक्त कुछ कांस्य-मूर्त्तियाँ- मृण्मूर्त्तियाँ, सचित्र पाण्डुलिपियाँ इत्यादि अन्य वस्तुएं भी प्रदर्शित थीं। प्रदर्शिनी का एक बड़ा आकर्षण मथुरा के कंकाली टीले की भूमि पर किसी समय विद्यमान सुप्रसिद्ध देवनिर्मित जैन स्तूप का निर्माणाधीन विशाल माडल (अनुकृति) रहा। यह माडल अभी भी अधूरा है किन्तु इसके बनाने में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जा रहा है कि, अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर ही सही, मूल प्राचीन स्तूप की निकटतम प्रतिकृति बने। वस्तुतः, जैनों में स्तूप निर्माण की प्रवृत्ति गुप्तकाल (४थी-६ठी शती ई०) के लगभग ही समाप्त होगई प्रतीत होती है, जबकि बौद्धों में स्तूप का प्रचलन अधिकाधिक बढ़ता गया। फलस्वरूप लोग यह भूल गये कि जैनों के भी स्तूप होते थे। यह भी विश्वास करने के कारण हैं कि आकार-प्रकार, रूप-रेखा, शैली, अलंकरण आदि की दृष्टि से जैन स्तूप बौद्ध स्तूप से भिन्न प्रकार का होता था। इसलिए भी प्रस्तुत माडल का अतीव महत्त्व है।

प्रदर्शिनी का उद्घाटन २८ जनवरी ७२ के सायंकाल उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल, डा० बी० गोपाल रेड्डी ने किया था। उस अवसर पर कुछ जैन तीर्थों पर बनी एक सवाक्फिलम का प्रदर्शन हुआ था। यह कला प्रदर्शिनी लगभग दो मास तक चली और विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों एवं छात्रों के अतिरिक्त सहस्रों सामान्य दर्शकों ने उसका निरीक्षण किया।

इसी अवसर पर आयोजित जैनकला-संगोष्ठी का उद्घाटन २८ जनवरी के प्रातःकाल बनारसीबाग में स्थित संग्रहालय के व्याख्यान कक्ष में श्री एस-सी० गोयल, सचिव-सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग, उ० प्र०, ने किया, और गोष्ठी का प्रथम सत्र प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बम्बई के निदेशक तथा प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ एवं कलामर्मज्ञ डा० मोतीचंद्र की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। पूर्वान्ह में बड़ौदा के डा० उमाकांत प्रेमनन्द शाह ने तथा लखनऊ के सहायक संग्रहालयाध्यक्ष श्री वी० एन० श्रीवास्तव ने अपने-अपने निबन्धों का सदीप व्याख्यान किया। अपरान्ह में गोष्ठी की अध्यक्षता लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभागाध्यक्ष डा० बैजनाथपुरी ने की और केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिल्ली के श्री आर० सेनगुप्ता ने निबन्धपाठ किया, तथा उपस्थित विद्वानों में जैनकला विषयक विविध चर्चा हुई।

अगले दिन, २९ जनवरी के पूर्वान्ह सत्र की अध्यक्षता डा० यू० पी० शाह ने की और डा० ज्योतिप्रसाद जैन (लखनऊ), श्री दीनबन्धु पाण्डेय (हि० विश्वविद्यालय, वाराणसी), श्री प्रेमकुमार अग्रवाल (हि० वि०, वाराणसी), तथा श्री रमेशचंद्र शर्मा (संग्रहालयाध्यक्ष, मथुरा) ने निबन्ध पाठ किये, और भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने जैनकला एवं स्थापत्य सम्बन्धी प्रस्तावित महाग्रन्थ की रूपरेखा तथा कार्यप्रगति पर प्रकाश डाला। अपरान्ह के सत्र में डा० मोतीचन्द्र ने अध्यक्षता की और श्री एम० के० ढाकी (वाराणसी), प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी (सागर), श्री माइखेल मीइस्टर (जर्मन), डा० शशिकांत जैन (लखनऊ) श्री एस्चवि लिप्पे (उपस्थित नहीं थे, निबन्ध भेजा था) के निबन्ध पाठ हुए और डा० मोतीचन्द्र ने अपने विद्वत्तापूर्ण समापन भाषण के साथ गोष्ठी का समापन किया।

अधिकांश भाषण सदीप थे और प्राय: सभी निबन्धपाठ, भाषण एवं चर्चाएँ अंग्रेजी भाषा में हुईं। इस उपादेय संगोष्ठी में जैन कला के विभिन्न पक्षों पर, विशेषकर जैन प्रतिमाविधान पर अच्छा प्रकाश पड़ा। चित्रकला और स्थापत्य शिल्प का बहुत कम स्पर्श हुआ।

इस आयोजन का श्रेय उत्तरप्रदेश राज्य सरकार के विभागीय अधिकारियों, विशेषकर राजकीय संग्रहालय के निदेशक हमारे मित्र डा० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी तथा उनके समस्त सहकारी सज्जनों को है जिनके लगन, उत्साह और परिश्रम ने यह आयोजन बनाया। समय-समय पर हमारा भी परामर्श एवं यथा संभव सहयोग लेकर उन्होंने हमें भी अनुगृहीत किया।

इस आयोजन ने भविष्य के लिए ऐसे आयोजनों की सम्भावनाओं को बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया, जिनके लिए यह एक उत्तम एवं सफल पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) का काम देगा। हमें आशा है, हमें विश्वास भी है, कि राजकीय संग्रहालय से सम्बद्ध उपरोक्त तथा तद्प्रभृति समस्त अधिकारीगण भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव वर्ष (१९७४) में ऐसी जैनकला प्रदर्शिनी तथा जैनकला संगोष्ठी और बड़े पैमाने पर तथा और अधिक सुचारु रूप से आयोजित करेंगे। तब तक संग्रहालय में निर्माणाधीन जैनस्तूप का माडल भी सर्वांग पूरा निर्मित हो जायेगा, इसकी पूर्ण आशा है।

उक्त जैनकला संगोष्ठी में पठित निबन्ध इतने उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं कि हम हिन्दी में उनका सार-संक्षेप शोधांक में प्रकाशित करने का लोभ संवरण न कर सके। इसके लिए हम राजकीय संग्रहालय के निदेशक डा० जोशी तथा निबन्ध प्रणेता समस्त विद्वानों के आभारी हैं।

अस्तु, अपने इस वक्तव्य के सिलसिले में ही हम उक्त निबन्धादि का क्रमवार सार संक्षेप में दे रहे हैं, जिसे यथासम्भव मूलानुसारी रखने का प्रयत्न किया गया है:—

१—जैन प्रतिमाविधान का प्रारम्भ

(डा० यू० पी० शाह)

भारत के प्रागऐतिहासिक स्थलों से अभी तक उस काल में जैनधर्म के अस्तित्व के कोई सुनिश्चित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संकेत प्राप्त नहीं हुए हैं । सिन्धुघाटी में मोहनजोदडो से प्राप्त कतिपय मुद्राओं पर खड्गासन मानवाकृतियां अंकित हैं जो तीर्थंकरों की ध्यानस्थ कायोत्सर्ग-मुद्रा के साथ अति निकट सादृश्य रखती हैं, किन्तु उन्हें भी जैन कला अथवा पूजा-विधान की प्राचीनता का सुनिश्चित साक्ष्य नहीं माना जा सकता ।

जैन परम्परा के चौबीस तीर्थंकरों में से अन्तिम दो—पार्श्वनाथ एवं वर्द्धमान महावीर को ही आधुनिक विद्वान् वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति मान्य करते हैं ।

हड़प्पा से प्राप्त लाल पत्थर की खण्डित मूर्तियाँ पटना के निकट लोहानीपुर से प्राप्त मोर्यकालीन पालिस वाली जिन-प्रतिमाओं के साथ अद्भुत सादृष्य रखती हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में भी अभी सुनिश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता ।

उपलब्ध पुरातत्विक साक्ष्य के आधार पर जैन परम्परा में प्रतिमा पूजन का अस्तित्व कम से कम मोर्य युग से रहा कहा जा सकता है ।

जहाँ तक साहित्यक साक्ष्य का सम्बन्ध है जैन आगमिक ग्रन्थों के उपलब्ध पाठ पांचवी शती के उत्तरार्द्ध में वलम्भी-वांचना में स्थिर किए गए थे ।

यह विश्वास करने के कारण हैं कि भ० महावीर के जीवन काल में ही उनकी प्रतिमा के पूजन के प्रयास किए गये थे । इस प्रकार की भ० महावीर की एक चन्दन-निर्मित प्रतिमा के बनाए जाने के उल्लेख मिलते हैं । ऐसी प्रतिमा 'जीवन्त स्वामी प्रतिमा कहलाती है । अकोटा से प्राप्त प्रतिमाओं में जीवन स्वामी की दो पुरानी कांस्य प्रतिमाएँ, जो छठी सती ई० की अनुमान की जाती है, प्राप्त हुई हैं ।

भ० महावीर द्वारा किसी जिन मन्दिर में जाने या पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की प्रतिमा पूजने का कोई उल्लेख नहीं मिलता, वरन् उनके यक्षायतनों अथवा यक्ष-चैत्यों में भी ठहरने के उल्लेख मिलते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि जिन-प्रतिमा प्राचीन यक्ष मूर्तियों के आदर्श पर ही निर्मित हुईं और प्राचीन यक्ष-नाग सम्प्रदाय की पूजा-पद्धति को प्रभावित किया । यह भी लगता है कि बौद्ध परम्परा में यक्ष और तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के प्रभाव के फलस्वरूप ही मूर्ति पूजा प्रचलित हुई । डा० जायसवाल द्वारा लोहनीपुर से खड्गासन जिन-मूर्ति का मौर्यकालीन धड़ मूर्ति पूजा सम्बन्धी जैन अनुश्रुतियों की प्रमाणिकता को तो सिद्ध करता ही है, ई० सन् के लगभग निर्मित जिन एवं बुद्ध प्रतिमाओं के एक प्राचीनतर आधार के मगध देश में विद्यमान रहने को भी प्रमाणित करता है। लोहानीपुर में एक चोकोर मन्दिर की नींव में से अनेक मौर्यकालीन अवशेषों के साथ एक अन्य बिना पालिश किया हुआ जिन प्रतिमा का धड़ भी प्राप्त हुआ है ।

चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा कल्पसूत्र, समवायांग सूत्र प्रवचनसारोद्धार, चतुर्थ विंशतिस्तव या लोगस्ससूत्र, नायधम्म कहाहो, स्थानांग सूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, भगवती सूत्र आदि आगमिक ग्रन्थों से सिद्ध है । इसमें सन्देह नहीं कि ई० सन् के प्रारम्भ के लगभग और सम्भवतया उससे भी दो-एक शताब्दी पूर्व चौबीस तीर्थंकरों के अस्तित्व के सम्बन्ध में लोगों का विश्वास था ।

मथुरा के कंकाली टीले तथा अन्य निकटवर्ती स्थानों से प्राप्त जैन मूर्तियों का साक्ष्य यह सिद्ध करता है कि कम से कम दूसरी शती ईसा पूर्व से जैन परम्परा में स्तूप पूजा प्रचलित थी । कंकाली टीले का जैन स्तूप ७वें० तीर्थंकर सुपार्श्व का रहा विश्वास किया जाता है, किन्तु सभवतया वह २३ वें तीर्थंकर पार्श्व का था जो जैन अनुश्रुतियों के अनुसार महावीर निर्वाण (५२७ ईसा पूर्व) से २५० वर्ष हुए थे । इस स्थान से प्राप्त कलावशेष जो मुख्यतः दूसरी या पहली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शती ईसा पूर्व से लेकर कुषाण काल के अन्त तक के है यह प्रकट करते हैं कि उक्त स्तूप का जीर्णोद्धार विस्तार तथा मूर्तियों से अलंकरण ईस्वी, सन् के प्रारम्भ के लगभग हुआ था। मथुरा के ये कला अवशेष सिद्ध करते हैं कि उस काल में जैनों में स्तूप, चैत्यवृक्ष, धर्मचक्र, आयागपट्टों, अष्टमंगल द्रव्यों, यथा स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म, दर्पण इत्यादि की पूजा प्रचलित थी। तीर्थंकरों की खड्गासन तथा पद्मासन दोनों ही प्रकार की प्रतिमाओं में किसी प्रकार के भी वस्त्रावरण के चिह्न का भी न होना यह स्पष्टतया सिद्ध करता है कि यद्यपि दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायभेद ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में निष्पन्न हो गया था, तीर्थंकर प्रतिमाओं के निर्माण में कोई भेद या अन्तर नहीं पड़ा।

मथुरा के कंकाली टीला से कुषाणकाल की सर्वतोभद्र अथवा चतुर्मुख (चौमुख) प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं जो दोनों ही सम्प्रदायों में कालान्तर से भी लोकप्रिय रही हैं। उसी काल की उक्त स्थान से एक सरस्वती प्रतिमा भी प्राप्त हुई है। तीर्थंकरों की जीवन घटनाओं तथा अन्य जैन पौराणिक आख्यानों के मूर्तांकन भी मथुरा से प्राप्त हुए हैं, यथा नीलांजना का नृत्य, हरीनैगमेसी, इत्यादि।

पूर्व मध्यकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं में प्रदर्शित पूरा परिकर तब तक विकसित नहीं हुआ था और मात्र प्रभामण्डल, चैत्रवृक्ष, उड़ते हुए विद्याधर गन्धर्व इत्यादि ही अंकित पाए जाते हैं। कुषाण कालीन प्रतिमाओं में ये तीर्थंकर लांछन और सम्बद्ध यक्ष-यक्षि का भी अंकन नहीं पाया जाता। आजू-बाजू खड़े चमरधारी यक्षों के स्थान में उक्त काल की प्रतिमाओं में दाता उपासक और उसकी पत्नी अथवा मुनि आर्यिका के अंकन पाए जाते हैं। जिन-प्रतिमा के सिंहासन पर दोनों कोनों पर एक-एक सिंह और बीच में एक धर्म-चक्र अंकित होता है जिसके दोनों ओर साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका अंकित रहते हैं।

लांछन के अभाव में तीर्थंकर की पहचान सिंहासन पर अंकित लेख में उल्लिखित नाम से होती है। कुषाणकाल की प्रतिमाओं में बहुधा ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की प्रतिमाएँ हैं। वर्ष २९९ (अथवा १९९) की अर्हत नन्द्यावर्त की प्रतिमा के आसन लेख को प्रो० कृष्ण दत्त बाजपेयी ने पुन: पाठ शुद्ध करके बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की प्रतिमा सिद्ध की है और स्मिथ ने वर्ष ९ में प्रतिष्ठापित एक प्रतिमा को तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ की सूचित किया है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० के पूर्व ही चौबीस तीर्थंकरों की सूची पूर्ण हो चुकी थी और सम्भवतया ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों से सम्बन्धित विस्तार कुषाण काल के अन्त के लगभग एक पूर्णता को प्राप्त हुए, अर्थात् आर्य स्कांदिल की माथुरी वाचना (लगभग ३००-३०० ई०) के पूर्व ही।

कल्पसूत्र में तीर्थंकरों के लांछन का कोई उल्लेख नहीं है। आवश्यक निर्युक्ति में आदिनाथ के ऋषभ लांछन का उल्लेख है। तीर्थंकरों के ३४ अतिशयों की प्राचीन सूचियों में भी लांछनों का समावेश नहीं है। उनमें से अष्ट प्रतिहार्य कभी-कभी तीर्थंकर प्रतिमाओं अथवा चित्रों में अंकित मिलते हैं। प्रतिहार्यों की सूची को अन्तिम रूप गुप्त काल के अन्त के लगभग दिया गया प्रतीत होता है। लांछनों के स्पष्ट उल्लेख ७वीं-८वी शती ई० की तक के ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होते किन्तु वैभार गिरि (राजगिर) की गुप्तकालीन नेमिनाथ प्रतिमा के आसन पर शंख लांछन अंकित है। चन्द्रगुप्त के अग्रज रामगुप्त द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमा पर भी लांछन नहीं है। गुप्तोत्तर काल की भी कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मूर्तियों पर लांछन नहीं मिलता, तथापि लांछनों का प्रारम्भ वल्लभी वाचना (४७३ ई०) से हुआ प्रतीत होता है, जबकि दोनों सम्प्रदायों में पूर्णतया अन्तिम अलगाव हो गया था।

विभिन्न तीर्थंकरों के शरीरों के विभिन्न वर्ण थे, जिनके आधार पर भी उन्हें चिन्हा जाता है। इसके अतिरिक्त आदिनाथ (ऋषभ)की प्रतिमाओं में बहुधा सिरके घुंघराले बाल कन्धों तक लटकते प्रदर्शित किये जाते हैं। आदिनाथ के वृषभ (नन्दी)लाँछन, जटा-जूट तथा सेवक गोमुख यक्ष उनका शिव के साथ अद्‌भुत सादृश्य स्थापित करते हैं।

प्रत्येक तीर्थंकर को जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान हुआ। वह उस तीर्थंकर का चैत्यवृक्ष कहलाता है किन्तु कला में प्रायः अशोक वृक्ष का ही चैत्य वृक्ष के रूप में अंकन हुआ है।

जैन परम्परा में सर्वोपरि उपासनीय देवाधिदेव अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधू नामक पंच परमेष्टि हैं। तीर्थंकर अर्हतों में से ही होते हैं और धर्म-तीर्थ की स्थापना करनेके कारण तीर्थंकर कहलाते हैं। सिद्ध मुक्त-आत्माएँ हैं, अमूर्त और निराकार हैं, और चित्रों में बहुधा अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला के ऊपर विराजमान प्रदर्शित किए जाते हैं। पंच परमेष्टि मे चार और पूजनीय पद सम्मिलित करके नव-देवता की स्थापना हुई जिसका प्रारम्भ नवीं शती ई० के लगभग हुआ प्रतीत होता है।

महापुरुषों की इस पूजा उपासना के फलस्वरूप जैन परम्परा में ६३ शलाका पुरुषों की मान्यता हुई, किन्तु उनमें से २४ तीर्थंकरों को छोड़कर अन्यों के कला में मूर्तांकन अति-विरल है।

जैन परम्परा में अन्य देवों के चार वर्ग—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क एवं विमानवासी-माने जाते हैं। महापुरुषों में १४ (अथवा सात) कुलकरों या मनुओं की भी मान्यता है।

जैन परम्परा में तथा बौद्धों में भी इन्द्र को जिन देव या बुद्ध का प्रधान सेवक सूचित किया गया है। उसका सेनापति भी स्कन्द है। अजमुख नैगमेष देवता की भी मान्यता चली। इनके अतिरिक्त श्रुत देवता या सरस्वती और श्री (लक्ष्मी)की भी पूजा चली। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त जैन सरस्वती की मूर्ति अत्यन्त प्राचीन हैं। परवर्ती काल में सरस्वती मूर्तियों के रूप में अनेक परिवर्तन और विकास हुए।

भारतवर्ष में यक्ष पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। जैन आगमिक साहित्य में भी अनेक यक्ष चैत्यों का उल्लेख है। पूर्णभद्र और मणिभद्र सर्व प्रसिद्ध प्राचीन यक्ष थे। औपपातिक सूत्र में वर्णित पूर्ण भद्र चैत्य, जिसमें महावीर एक समय ठहरे थे, महत्वपूर्ण है। उसमें जिस चमकदार पृथ्वी शिला पट्टका उल्लेख है वह कोसम और वैशाली के उत्खननों में प्राप्त छठी सातवीं शती ईसा पूर्व के काले चमकदार पालिश के मृण-पात्रों की ओर संकेत करता है और ऐसा लगता है कि उसके अनुकरण पर ही मथुरा के वे जैन आयाग पट्ट प्रचलित हुए जिनका समय ईसा के पूर्व एवं पश्चात् की दो शतियाँ हैं। जैन परम्परा में देवतावाद के विकास के परिणाम स्वरूप प्रत्येक तीर्थंकर के शासन देवताओं के रूप में एक एक यक्ष-यक्षि युगल की भी मान्यता चली जिनका अंकन जिन प्रतिमा के आसन पर किया गया। शनैः शनैः इन यक्ष-यक्षियों के आकार-प्रकार, रूप-रंग, आकृति, आयुध, वाहन, आदि परिकल्पित किए गए। अम्बिका यक्षि का सर्व प्रथम उल्लेख जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ टीका (लगभग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५००-६०० ई०) में प्राप्त होता है और अम्बिका की सर्व प्राचीन मूर्ति भी ५५० ई० से पूर्व की नहीं है। एहोल के मेगुति मंदिर की अम्बिका मूर्ति भी ६३४ ई० के आस-पास की है। एलोरा की जैन गुफा में भी कई सुन्दर नमूने हैं। इसी प्रकार पद्मावती देवी के मूर्तांकनों का विकास भी उतना ही दिलचस्प है। ९०० ई० से पूर्व की पार्श्व प्रतिमाओं में उनकी यह यक्षि प्रायः नहीं पाई जाती। अपने साथी धर्णेन्द्र यक्ष के साथ वह तीर्थंकर पार्श्व की सेविका है और कमठ उपसर्ग निवारण के दृश्य सहित वे दोनों पार्श्व प्रतिमा के साथ अंकित पाए जाते हैं। एलोरा, धारासिव, चितराल, वल्लीमलय, कालगूमलय इत्यादि अनेक स्थानों में इस प्रकार के अनेक सुन्दर प्रस्तरांकन पाए गए हैं। १६ महाविधाओं की सूची २४ यक्ष-याक्षो की सूचियों से प्राचीन मालूम होती है। और उनमें से भी १३ वीं महाविधा वैरोट्या भी एक नागदेवी है। ऐसा लगता है कि मध्य काल में पद्मावती ने वैरोट्या का स्थान ले लिया और वह अम्बिका के बाद सर्वाधिक लोकप्रिय देवी हुई। उसे लेकर भैरव-पद्मावती कल्प आदि अनेक मन्त्र शास्त्र रचे गए। प्रथम तीर्थंकर की यक्षिणी चक्रेश्वरी भी लगभग ९०० ई० के उपरांत ही लोक प्रिय हुई लगती है। उसका प्रतिमा विधान हिन्दू परम्परा की वैष्णवी देवी से बहुत मिलता जुलता है। चक्रेश्वरी अपरनाम अप्रति चक्रा नाम की एक विद्या देवी भी है और वह तन्नाम यक्षि से प्राचीनतर मालूम होती है। महावीर की यक्षि प्रारम्भ में अम्बिका थी जिसका स्थान बाद में सिधापिका ने ले लिया, और यद्यपि वह चार यक्षणियों में से एक है, अन्य तीन, अर्थात् चक्रेश्वरी, पद्मावती और अम्बिका जितनी लोक प्रिय नहीं हो सकी।

—

२—लखनऊ राजकीय संग्रहालय की कुछ दिलचस्प जैनमूर्तियाँ

(श्री बी० एन० श्री वास्तव)

संग्रहालय का मुख्य जैन संग्रह मूलतः मथुरा के कंकाली टीले से आया है और उसमें अनेक मूर्तियों न केवल उच्च कोटि की कलात्मक हैं वरन् प्रतिमा विधान तथा जैनधर्म के प्राचीन इतिहास के लिए भी महत्वपूर्ण हैं : इन कलाकृतियों में आयागपट्ट, स्तूप, यक्ष्य-यक्षि, मेंगमैन्शी, सरस्वती, बलराम-नेमिनाथ-बासुदेव कृष्ण-विग्रह, प्रतिमा सर्वतोभद्रिका, मांगलिक चिन्ह, धर्मचक्र, चैत्य-वृक्ष तथा अनगिन्त एकांकी तीर्थंकर प्रतिमाएँ आदि मथुरा के तत्कालीन जैनों की देन हैं। कंकाली टीले से प्राप्त संग्रह से ऐसा प्रतीत होता है कि जैनमूर्ति पूजा का प्रारम्भ सम्भवतया पूर्वी भारत में न होकर मथुरा में हुआ। जैनधर्म के प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने में मथुरा का प्रमुख योगदान रहा। यह ध्यातव्य है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद, जो कम से कम तीसरी शती ईसा पूर्व जितना प्राचीन है, मथुरा की जिनमूर्तियों में उत्तरमध्य काल पर्यन्त भी उसका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। वहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ भी दिगम्बर ही रही हैं। वहाँ के प्रतिमा लेखों में जिस सम्वत् का प्रयोग हुआ है वह प्रायः ७८ ई० का शक स० ही समझा जाता है। किन्तु कुछ प्रतिमाएँ ऐसे भी हैं जो उनमें उल्लेलित वर्ष की दृष्टि से प्रायः सम-सामयिक होनी चाहिए तथापि इनकी शैली आदि इतनी भिन्न है कि जिससे लगता है कि उस समय मथुरा में प्रसिद्ध शक० सं० से पूर्ववर्ती या परवर्ती अन्य सम्वत् भी प्रचलित रहे।

इस निबन्ध में विशेष रूप से दो-तीन ऐसे प्रस्तरांकनों पर प्रकाश डाला जा रहा है जिन पर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इनमें दो ऐसे प्रस्तरांकन हैं जो दूसरी शती ईसा पूर्व के हैं। इनमें से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक रोचक जैन पौराणिक दृश्य प्रस्तुत करता है। इस कलाकृति का एक टूटा हुआ अंश अभी हाल में ही लेखक ने पुराने पड़े ढेर में से खोज निकाला है जिसे जोड़ने पर दृश्य और स्पष्ट हो जाता है। इस अंकन को पहले मात्र एक नृत्य दृश्य समझा जाता था। तदनन्तर डा० वी० एस० अग्रवाल ने उसे भ० महावीर का जन्मोत्सव दृश्य समझा। किन्तु यह दृश्य नीलांजना का नृत्य है (जिसके फलस्वरूप ऋषभदेव को वैराग्य हुआ था) यह तथ्य सर्वप्रथम लखनऊ के डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने तथा डा० यू० पी० शाह ने सुझाया और यही सुझाव उपयुक्त प्रतीत होता है। इसमें एक छोटी सी नग्न मूर्ति का भी अंकन है जो भ० ऋषभ की होनी चाहिये। टूटे हुए टुकड़े को जोड़ने के बाद जो पूरा पट्ट बनता है उसमें ऋषभनाथ की दीक्षा के प्रसंग की कई क्रमिक घटनाओं का अंकन है।

दूसरा प्रस्तरांकन (वी० २०७) मथुरा से प्राप्त बौद्ध मूर्ति संग्रह में पड़ा हुआ था किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि वह एक जैन कला कृति है जिसमें अंकित हुआ कृतियों में से एक छोटी सी तीर्थंकर मूर्ति भी है, स्तूप है और हरी नैंगमेशी की मूर्ति है। तोरण के रूप में बने हुए इस अलंकरण में तीनकक्ष हैं, अनेक मानवाकृति अंकित हैं और यह स्तूप पूजा के लिए आए एक जुलूस का दृश्य प्रतीत होता है। जैसा स्तूप इसमें बना है बिल्कुल वैसा ही मथुरा से प्राप्त तीन अन्य प्रस्तरांकनों में भी पाया जाता है और वह बौद्ध शैली के स्तूप से भिन्न है। जैन स्तूप में चार वेदिकाएँ होती थीं जबकि बौद्ध स्तूप में केवल तीन और जबकि बौद्ध स्तूप अर्द्धगोलाकार होता था जैन स्तूप लम्बोतरी आकृति का होता था।

गुप्तकाल से पूर्व की जिन प्रतिमाओं में लांछन नहीं पाया जाता। आदिनाथ की प्रतिमाएँ उनके कन्धों तक लटकते बालों से, सुपार्श्व और पार्श्व की सिर के ऊपर बने फणि-मण्डप से और नेमिनाथ की उनके साथ अंकित बलराम और कृष्ण की आकृतियों से चीन्ही जाती हैं। इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं और इनसे यह सूचित होता है कि तीर्थंकर नेमिनाथ का घनिष्ट सम्बन्ध मथुरा से रहा है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण मूर्ति एक खण्डित फलक के एक सिरे पर उत्कीर्ण है किन्तु उसका सिर गायब है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भव है वह बलराम की हो। (लेखक ने अपने मूल निबन्ध में उपरोक्त कलाकृतियों का विस्तृत वर्णन एवं तुलनात्मक विवेचन किया है।

—

(३) मथुरा के जैन आयागपट्टों की एक व्याख्या

(श्री आर० सेन गुप्ता)

मथुरा के ककाली टीले पर स्थित जैन स्तूपों से सम्बन्ध आयागपट्ट किन्हीं अंशों में वैसे ही हैं जैसे कि आन्ध्र देश आदि के बौद्ध स्तूपों से संबद्ध आयक् चौतरे। 'आयाग' और आयक' शब्दों के अर्थ विद्वानों पर अभी तक पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। बुहलर के अनुसार अर्हतों की पूजा के लिए स्थापित पूजापट्ट को 'आयाग पट्ट' कहते हैं। डा० अग्रवाल 'आयाग' और 'आयक' व्युत्पत्ति संस्कृत 'आर्यक' से बताते हैं। मथुरा से प्राप्त एक फलक से प्रतीत होता है कि स्तूप के चारों दिशाओं में बने चार द्वारों में से प्रत्येक के सामने एक-एक आयागपट्ट स्थापित किया जाता था। लूडर्स और बर्गेस 'आर्यक' के अर्थ 'द्वार' करते हैं और गोपालाचार्य 'द्वार पर स्थित कोई वस्तु' विभिन्न स्थानों के बौद्ध स्तूपों के अवलोकन से यह प्रगट है कि ये आयक पट्ट केवल पुष्प चढ़ाने के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लिए ही नही बनाये जाते थे। तक्षशिला, अहिछत्रा, वैशाली, अमरावती, नागार्जुनिकोंडा आदि स्थानों के स्तूपों के साथ 'आयक' मिले हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि आयागपट्ट उन यवन (यूनानी) स्तम्भों के अनुकरण पर बनाए गए जो समाधियों के सामने बनाए जाते थे। क्योंकि उस काल में भारत के विभिन्न भागों में अनेक यवन (यूनानी) निवास करते थे, यह सम्भव है कि उन्हीं के 'ओमफलस' (समाधि टीका) के सम्मुख स्थापित 'अगइयूस' (स्तम्भ) के प्रभाव के फलस्वरूप बौद्ध 'आयक' और जैन 'आयाग पट्टों' का प्रचलन हुआ।

अस्तु 'आयाग' स्तूप के द्वार रक्षक के देवता के रूप में स्थापित किया जाता था और इसीलिए उस पर पुष्प चढ़ाये जाते थे। श्री लंका में भी स्तूपद्वार के सम्मुख बने 'वा-हल-कद' आयक ही थे। आन्ध्र देश में 'आयक' चबूतरे के ऊपर पाँच आयस्क-खम्भ भी बनाए जाते थे। भागवत धर्म की पंचवीर पूजा का मूल भी सम्भवतया इसी तथ्य में है। ऋग्वेद में वैश्वानर को अग्नि स्तम्भ कहा है। (निबन्ध में लेखक ने यूनानी, ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्य एवं कला से अनेक दृष्टान्त देकर अपने मत की पुष्टि की है।

—

(४) जैन साहित्य के पुस्तकीकरण की पृष्ठभूमि–सरस्वती आन्दोलन

(डा० ज्योति प्रसाद जैन)

कला और साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अनेक अंशों में वे एक दूसरे के आश्रित, अनुसर्ता एवं पूरक हैं। अत: किसी धर्म परम्परा या सांस्कृतिक समुदाय की कला का मूल्यांकन करने के लिए उसकी साहित्यिक अनुश्रुतियों और उसके मूल स्रोतों की जानकारी आवश्यक है।

जैनधर्म प्राचीन भारतीय संस्कृति की उस धारा का प्रतिनिधित्व करता है जो सूदूर अतीत में आर्हत, व्रात्य, श्रमण अथवा निर्ग्रन्थ कहलाती थी जिस प्रकार कि वर्तमान हिन्दू-धर्म उस धारा का प्रतिनिधित्व करता है जो बार्हत, वैदिक या ब्राह्मण कहलाती थी। जैनधर्म का संस्थापक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को माना जाता है, जिन्होंने मानवी सभ्यता का ओम्-नमः किया, मनुष्यों को विविध कला, शिल्प उद्योगधन्धे सिखाए और लेखन कला का आविष्कार किया। तीर्थंकरों ने अपना उपदेश अपने समय की लोकभाषा में दिया और उन उपदेशों का संकलन जिनवाणी, आगम या श्रुति कहलाया। अन्तिम तीर्थंकर महावीर (छठी सती ईसापूर्व) के उपदेश द्वादश अंगों के रूप में संकलित हुए, जिनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश 'चौदह पूर्व' थे। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकीर्णक (पयन्ना, रचनाएँ थीं। यह आगम श्रुत गुरु-शिष्य परम्परा में मौखिक द्वार से महावीर निर्वाण (५२७ ई० पूर्व) के लगभग ६००-७०० वर्ष बाद तक प्रवाहित रहा। महावीर की शिशु परम्परा के प्रारंभिक जैन साधु परम त्यागी, निष्परिग्रही वनवासी, तपस्वी होते थे और वे बहुत समय तक आगम ज्ञान के लिपिबद्ध करने के विरोधी बने रहे। संघ का संगठन अति-उत्तम था—संघाचार्य, गणी, उपाध्याय, वाचकाचार्य, उच्चारणाचार्य प्रच्छकाचार्य, वर्तकाचार्य इत्यादि पदवीधारी मुनि आगमज्ञान का संरक्षण करने में स्वयं को समर्थ समझते थे, तथापि कालदोष से उस ज्ञान में शनै:-शनै: ह्रास होता गया और मतभेद भी उत्पन्न होते गए।

चौथी शती ईसा पूर्व में भद्रबाहु श्रुतकेवलि के समय पहले-पहल संघ के चिन्ह प्रकट हुए, जिसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलस्वरूप आगे चलकर जैन-संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। प्रायः उसी समय से संघ की एक शाखा (दिगम्बर) का मुख्य केन्द्र दक्षिण भारत का कर्णाटक प्रदेश बना तो दूसरी शाखा (श्वेताम्बर) का मुख्य केन्द्र सौराष्ट्र-गुजरात बना। मथुरा दोनों ही का मिलन स्थल बना रहा है और इसी महानगर से उस महान 'सरस्वती आन्दोलन' का प्रवर्तन हुआ जिसके परिणाम स्वरूप जैन आगमिक ज्ञान का लिपि बद्धीकरण और जैन पुस्तक साहित्य का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इस आन्दोलन की अधिष्ठात्री अथवा प्रतीक सरस्वती देवी बनाई गई जिसकी एक आदमकद खण्डित मूर्ति जिसके एक हाथ में गोमूत्र चिह्नांकित डोरी से बंधी पुस्तक है तथा दूसरे में सम्भवतया अक्षमाला थी अथवा वह वरद मुद्रा में था। (वह हाथ खंडित है।) देवी के आसन के निकट दो पुरुष, जिनमें से एक शक वेश-भूषा में है, अंकित हैं। इस प्रतिमा की स्थापना वर्ष ५४ (सम्भवतया १३२ ई०) में कोटिटगण-थानिय कुल—वैरिय शाखा के वाचक आर्य हस्त-हस्ति के शिष्य गणी आर्य मा-(ना-)ग अस्ती हस्ति के श्रद्धाचारी वाचक आर्यदेव की प्रेरणा से सिंह के पुत्र लोहिकारक गोप ने कराई थी। सरस्वती की यह प्रतिमा जैन परम्परा की ही नहीं समस्त भारत की उस देवी की उपलब्ध मूर्तियों में सर्व प्राचीन है। यह भी सम्भव है कि ऐसी अन्य प्रतिमाय उसके और १००-२०० वर्ष पहले से बननी प्रारम्भ हो गई हों। कम से कम उसकी परिकल्पना तो हो ही चुकी होगी। दूसरी शती ईसापूर्व के सम्राट खारवेल के हाथी गुंफा शिला लेख से यह प्रगट है कि उस समय आगमों के लिपिबद्ध करने की आवश्यकता महसूस होने लगी थी और सम्भवतया मथुरा के जैन साधुओं ने ही खारवेल द्वारा आयोजित मुनि सम्मेलन में यह प्रश्न जोर-शोर से उठाया तथा वहाँ से वापस आकर मथुरा मे विधिवत यह आन्दोलन छेड़ दिया। ज्ञान कीअधिष्ठात्री सरस्वती को उन्होंने इस आन्दोलन का प्रतीक बनाया प्रतीत होता है।

मथुरा के उक्त सरस्वती आन्दोलन के फलस्वरूप ही दक्षिण के कुन्द-कुन्द आदि दिगम्बराचार्यों ने आगमिक ज्ञान का पुस्तकीकरण तथा उसके आधार पर स्वतन्त्र साहित्य का प्रणयन पहली शती ईसा पूर्व के ही लगभग प्रारम्भ कर दिया था और श्वेताम्बर शाखा के आचार्यों ने आगमों की वाचनायें करनी प्रारम्भ कर दी थीं। थापनीय नाम की एक अन्य शाखा के आचार्यों ने भी साहित्य सृजन करना प्रारम्भ कर दिया था। इसके अतिरिक्त उन अद्वितीय असंख्य कला कृतियों का निर्माण भी प्रारम्भ हो चुका था जो स्वयं मथुरा में दूसरी शती ईसा पूर्व से लेकर गुप्तकाल पर्यन्त निर्मित हुई।

———

(५) प्रतिभा सर्व तो भद्रिका

—श्री दीनबन्धु पांडेय

प्रतिमा-सर्व तो भद्रिका, चतुर्बिंब, चतुर्मुख, या चौमुखी प्रतिमाओं का जैन परम्परा में पर्याप्त चलन रहा है। कुछ विद्वान् इनकी तुलना ब्राह्मणीय त्रिमूर्ति अथवा चतुर्मुख शिवलिंग से करते हैं। कुछ ऐसा मानते हैं कि ऐसी प्रतिमा जैनों से ब्राह्मणों में आयीं और कुछ यह कि चतुर्मुख शिवलिंग के अनुकरण पर जैनों ने ऐसी प्रतिमाएँ बनाईं।

ऐसी प्रतिमाएँ दो प्रकार की हैं। एक में चारों प्रतिमाएँ एक ही तीर्थंकर की होती हैं और दूसरे में विभिन्न तीर्थंकरों की।

सर्वतोभद्र की कल्पना मूलतः समवसरण के आधार पर की गई है, जिसमें उपदेश देते हुए तीर्थंकर चारों ओर से एक समान दृष्टिगोचर होते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके अतिरिक्त, ऐसी प्रतिमाओं के दर्शन चारों ओर से हो सकते हैं। सुधि दे के अनुसार चौमुखी-प्रतिमा में विभिन्न तीर्थंकरों की योजना मूल कल्पना में एक उत्तरवर्ती विकास है। कभी-कभी ऐसी प्रतिमाओं में चार से भी अधिक, यहाँ तक कि चौबीस तक भी मूर्तियाँ होती हैं।

वैष्णव धर्म के विष्णु पट्टों में भी देवता के विभिन्न रूप दर्शाने के लिए ऐसी परिकल्पना की गई। जैन चौमुखी प्रतिमाओं में कुछ में ऋषभ, सम्भव, और महावीर की मूर्तियाँ पायी गई हैं, किन्तु बहुधा वे ऋषभ, शान्ति, पार्श्व और महावीर की होती हैं। कहीं-कहीं शान्तिनाथ के स्थान में नेमिनाथ की होती है। जहाँ चौबीसों एक साथ होती हैं वहाँ छः छः प्रत्येक दिशा में बनाई जाती हैं। सूरत की एक कांस्य मूर्ति में अनेक बैठी हुई जिन-मूर्तियाँ चारों ओर छोटी-छोटी वेदियों में विराजमान हैं, जो प्रमुख खड्गासन जिन मूर्तियों के चारों ओर बनी हुई हैं। कुषाणकाल की तीर्थंकर मूर्तियाँ प्रायः खड्गासन है, किन्तु महावीर की चतुर्मुखी मूर्तियों में वे पद्मासन है। गुप्तकाल की मूर्तियों में उड़ते हुए विद्याधर कुबेर, हारिति और नवग्रह उत्कीर्ण रहते हैं। प्रारम्भिक मध्यकाल की सर्वतोभद्र मूर्तियाँ छोटे-छोटे मन्दिरों के रूप में बनी हुई है। चार से अधिक या चौबीस तीर्थंकरों का अंकन सर्वतोभद्र के विकास में तीसरा चरण रहा प्रतीत होता है। इस निबन्ध के तैयार करने में प्रो० एस० के० सरस्वती, श्री जे० एन० तिवारी और श्री मारुति नन्दन तिवारी से मूल्यवान सहायता मिली है जिसके लिए लेखक उनका आभारी है। (लेख के साथ पाद टिप्पणियों में आवश्यक संदर्भ भी दिए हुए हैं।)

———

(६) नद्यावर्त प्रतीक की पहिचान पर एक टिप्पण—

(—श्री पी० के० अग्रवाल)

भारतीय कला में मांगलिक चिन्हों एवं विभिन्न कलंकरणों की सूची अत्यधिक समृद्ध है। हमारी मूर्ति कला का इतिहास सार्थक प्रतीकों की समर्थ भाषा से मुखर है। स्वस्तिक, पूर्णघट आदि ऐसे प्रतीक हैं जिनका अर्थ स्वतः स्पष्ट है, नाम से ही जिनका बोध हो जाता है, किन्तु कुछ ऐसे भी प्रतीक हैं यथा नन्द्यावर्त, जिनकी सुनिश्चित पहिचान एक समस्या है। स्वस्तिक और श्रीवत्स के साथ यह बहुधा अष्ट-मांगलिक चिन्हों में समाविष्ट रहता है। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण, तीनों ही परम्पराओं के प्राचीन साहित्य में इसके उल्लेख मिलते हैं, जिससे सभी विभिन्न धर्मों में इसकी लोक प्रियता सूचित होती है। कुछ विद्वान इसका समीकरण नन्दीपक्ष या गोपक्ष से करते हैं; वस्तुतः 'नन्द्य' का अर्थ सुखद अथवा मांगलिक है और 'आवर्त' के अर्थ घेरा। जैनों में वर्तमान में नन्द्यावर्त का रूप एक स्वस्तिक जैसा है, जिसके चारों सिरे घुमावदार बने होते हैं। आचार्य दिनकर ग्रन्थ में 'अतश्चतुर्थनवकोरगनंद्यावर्तः' के रूप में इसका वर्णन किया गया है और औपपातिक-सूत्र की टीका में 'प्रतिदिग्नवकोणः स्वस्तिक विशेषः रूढ़िगम्यः' के रूप में। इससे यह प्रतीत होता है कि जिसमें चारों ओर नव-कोण रहते हैं। किन्तु शुंग-कुषाण या गुप्तकाल की कला में भी उपर्युक्त परिभाषा के अनुरूप इस प्रतीक का अंकन प्राप्त नहीं होता। ऐसा ही लगता है कि यह स्वस्तिक का ही विकसित रूप रहा है।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) जैन कला एवं स्थापत्य विषयक प्रस्तावित ग्रन्थ

भारतीय ज्ञान पीठ दिल्ली के मन्त्री श्री लक्ष्मी-चन्द जैन ने भ० महावीर के २५ वें निर्वाण महोत्सव की स्मृति में निकाले जाने वाले उपरोक्त ग्रन्थ की रूप रेखा, विषय विभाजन, तथा किन-किन विद्वानों से उसके कौन-कौन से प्रकरण लिखाए जाते हैं, इत्यादि पर विशद प्रकाश डाला।

———

(८) रायपसेणिय में जैनकला

(श्री रमेशचन्द्र शर्मा)

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मान्य १२ उपांगों में से एक का नाम रायपसेणिय या राजप्रश्नीय सूत्र है। इस ग्रन्थ में अनेक पुनरावृत्तियाँ और बहुधा अनावश्यक नीरस एवं उबा देने वाले विस्तार हैं, किन्तु साथ ही अपने समय के भारतीय स्थापत्य में किए जाने वाले प्रयोगों और प्रचलनों का भी अति-उत्तम वर्णन प्राप्त होता है। यह रचना कुषाण युग की प्रतीत होती है, जैसा कि डा० मोतीचन्द का भी अनुमान है।

ग्रन्थ में एक प्रसंग आता है कि जिस समय भ० महावीर आमल कप्पा नामक स्थान में तपस्या कर रहे थे तो सूर्याभ नामक देव ने उनके दर्शनों के लिए आने की इच्छा की। सर्वप्रथम उसने अपने सूर्याभ विमान से ही उन्हें देखा और अपने अनुचर देवों को भगवान के तपस्थान के आस-पास की समस्त भूमि का शोधन करने एवं उसे रमणीक बनाने का आदेश दिया। तदन्तर अपनी यात्रा के लिए एक दैवी विमान बनवाया। उस विमान के निर्माण का जो अत्यन्त विस्तृत विशद एवं सांगोपांग वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है उसने इसे प्राचीन भारतीय स्थापत्य-शिल्प का एक विश्वकोष ही बना दिया। यह किसी रथ, विमान या वायुयान का वर्णन नहीं हैं, वरन् एक पूरी राजधानी के निर्माण की योजना प्रस्तुत करता है, जिसके विभिन्न एवं विविध भवनों और उनके अनेक भागों और विभागों के निर्माण की विस्तृत रूप रेखा, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, स्तम्भ, तोरण, गवाक्ष, वेदिका, विभिन्न अलंकरण, इत्यादि, सबका विवरण इसमें प्राप्त होता है। अनेक स्तम्भों का वर्णन मथुरा से प्राप्त प्राचीन स्तम्भों की याद दिला देता है।

विमान के केन्द्रीय राजभवन का नाम सुधर्मा सभा है। उसका भी अत्यन्त सुन्दर सांगोपांग एवं विस्तृत वर्णन किया गया है सुधर्मासभा के मध्य भाग में सिद्धायतन नाम का एक विशाल मन्दिर था, जिसमें ८०० पुरुषाकार जिन-प्रतिमाएँ विराजमान थीं। घण्टे, ध्वजा, कलश, दर्पण फलों से भरी डालियाँ, इत्यादि अनेक विविध वस्तुओं का वर्णन हुआ है।

———

(९) कम्बदहल्ली की गंग कालीन जैन मूर्तियां

(—श्री एम० ए० ढाकी)

कर्णाटक देश में जैन धर्म के प्रश्रयदाता नरेशों में तलकाड के गंगराजे सर्वाग्रणी थे। लगभग छठी शती ई० से ही गंग नरेश जैन धर्म के अनुयायी हो गए थे और १० वीं शताब्दी के अन्त के लगभग गंगवाणी में अपनी राज्यसत्ता की समाप्ति तक वे उसके अनुयायी बने रहे। दक्षिण भारत में दिगम्बर जैनों के सर्व पवित्र तीर्थ श्रवणबेलगोल से प्राप्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवीं शती के आस-पास के शिला लेखों से गंगवाड़ी में जैन धर्म का अस्तित्व सिद्ध है। गंग नरेशों ने अनेक जिनमन्दिर अपनी गंगवाड़ी में ही नहीं, कुन्तल प्रदेश में भी बनवाए और दशवीं शती० के उत्तरार्द्ध में उनके मन्त्री चामुन्डराय तथा अन्य जैन राजपुरुषों, व्यापारियों और सामान्य गृहस्थों ने अनगिनत देवायतन बनवाये। ऐसे दो अन्य स्थान जहाँ गंग काल के जैन अब भी विद्यमान हैं कम्बदहल्ली और वरुणा हैं। पहले स्थान मे मन्दिर और मूर्तियां बहुत कुछ सुरक्षित रह आयी है, जबकि दूसरी की प्रायः सब विनष्ट हो गई हैं। चामुन्डराय धसदि की 'घर' और 'गृह-पिण्डी' में तथा कम्बदहल्ली की पंचकूट बसदि की दीवारों के आलों में मूर्तियाँ अवशिष्ट हैं। श्रवणबेलगोल में अलंकरण के लिए प्रयुक्त मूर्तियों में जिन-प्रतिमाएँ, यक्ष, अप्सराओं आदि की मूर्तियाँ हैं। चन्द्रगुप्त बसदि में पार्श्वनाथ की खड्गासन प्रतिमा अत्यन्त कलापूर्ति हैं। कम्बदहल्ली के प्रमुख जैन मन्दिय पंचकूटि बसदि और शांतिनाथ बसदि हैं। दोनों द्राविड़ शैली में बने हैं। पंचकूट बसदि की जिन-प्रतिमाएँ और उनके परिकर की मूर्तियाँ गंग-के श्रेष्ठ नमूने थे। यहाँ तक कि चामरवाहकों की आकृतियां भी बड़ी सुन्दर और सजीव हैं और गंग कलाकारों द्वारा निर्मित यहाँ की जिन-प्रतिमा अत्यन्त मनोज्ञ, कलापूर्ण और प्रायः अप्रतिम है। शांतिनाथ बसदि पंचकूटि बसदि की अपेक्षा परवर्ती है, किन्तु उसमें विराजमान जिन प्रतिमाएँ यह सिद्ध करती हैं कि वह विन्ध्यगिरि के सुप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर से प्राचीन है। उसकी विशालकाय कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित शान्तिनाथ प्रतिमा तो अत्यन्त सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण है। अन्य प्रतिमाएँ एवं मूर्तांकन भी कलापूर्ण हैं। चौरी वाहक, यक्ष-यक्षि, नागेन्द्र, दिक्पाल, सर्वानुनुभूति यक्ष, उड़ते हुए विद्याधर, चैत्यवृक्ष, सिंहासन, प्रभामण्डल इत्यादि, सभी उस काल के शिल्पियों के कौशल को सूचित करते हैं। (विद्वान् लेखक ने मुख्य-मुख्य कलाकृतियों का विस्तृत वर्णन और तुलनात्मक मूल्यांकन किया है, पाद टिप्पणियों में सन्दर्भों का संकेत भी कर दिया है।)

१०—मध्य-प्रदेश के जैन कला केन्द्र

(प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी)

जैन अनुश्रुतियों में विदिशा में जीवन्त स्वामी की प्रतिमा की पूजा करने और रथयात्रा निकालने के तथा अवन्तीनरेश प्रद्योत द्वारा उस प्रतिमा को सिंधु-सौवीर की राजधानी रोरुक से यहाँ लाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। कलकाचार्य कथानक से ज्ञातहोता है कि उज्जैनी भी जैन केन्द्र था, किन्तु जहाँ तक प्राचीन कलावशेषों के पाए जाने का सम्बन्ध है मध्य भारत में जैन धर्म का वैसा प्रभाव रहा प्रतीत नहीं होता जैसा कि बौद्धधर्म का। यहाँ सुंगसात वाहन काल में मरहुत और सांची जैसे बौद्ध-कला के भारी केन्द्र फलेफूले। इस काल में विदिशा यक्ष-पूजा का केन्द्र बना और वहाँ बेतबा नदी से कई उल्लेखनीय यक्ष-यक्षि मूर्तियां मिली हैं। उसी काल में वहाँ नाग - पूजा भी प्रचलित थीं। कुषाण काल में विदिशा की कला पर मथुरा की कला का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। अभी हाल में विदिशा से तीन लेखयुक्त तीर्थंकर प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनमें से दो चन्द्रप्रभ की तथा एक पुष्पदन्त की है और वे महाराजाधिराज रामगुप्त द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी। विद्वान लेखक को इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। कि यह रामगुप्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अग्रज से अभिन्न हैं। उसके तांबे के सिक्के विदिशा से बड़ी संख्या में मिले हैं। शैली आदि की दृष्टि से इन प्रतिमाओं का मथुरा की गुप्त युग के प्रारम्भ की प्रतिमाओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के साथ निकट सादृश्य है पद्मासन, ध्यान मुद्रा, शरीर की बनावट, सिर के बाल, प्रभामण्डल, श्रीवत्स लांछन, पद्मांकन, चौरीवाहक, सिंहासन के मध्य में चक्र जिसके दोनों ओर एक-एक सिंह हैं, इत्यादि, दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं। तीनों प्रतिमाएँ विदिशा में ही प्राप्त बलुए पत्थर की बनी हुई हैं। और लेखों की लिपि उदयगिरि तथा सांची के गुप्तकालीन अभिलेखों जैसी है।

कुमार गुप्त प्रथम के शासनकाल की तीर्थंकर प्रतिमा विदिशा के निकट उदयगिरि की गुफा नं० २० में है। उसकी शैली भी मथुरा की कौशांबी आदि की गुप्त कालीन जिन प्रतिमाओं जैसी है। एक तीर्थंकर प्रतिमा पन्ना जिले के सलहा स्थान के निकटवर्ती सीरा पहाड़ी से, ५०० ई० के लगभग की, प्राप्त हुई है। गुप्तकाल में झांसी जिले का देवगढ़ भी एक महत्वपूर्ण कला केन्द्र हो गया था। वहाँ की पहाड़ी पर गुप्तोत्तर काल में एक बड़ा जन केन्द्र बन गया। अनेक जैन मन्दिर और बहुसंख्यक जैन मूर्तियाँ १९वीं शती तक की वहाँ विद्यमान हैं। चन्देरी, दूबही, चांदपुर तथा अन्य अनेक स्थानों में प्राप्त जैन कलाकृतियों से प्रगट है कि इस प्रदेश में जैन धर्म का प्रभूत प्रचार रहा है। देवगढ़ में चिर काल तक भट्टारक पन्थ का प्रभाव रहा। ग्वालियर दुबेला, इन्दौर संग्रहालय, विदिशा, बदोह और पथारी में प्राप्त जैन मूर्तियाँ गुप्त और गुर्जरप्रतिहार काल की हैं।

मध्यकालीन जैनकला में अत्यधिक अलंकरण तथा मूर्ति निर्माण कला के उदाहरण मिलते हैं। तत्कालीन जैन समाज की समृद्धि और शासकों से प्राप्त प्रश्रय ने मध्यप्रदेश के विभिन्न भागों में जैन कला के विकास म योग दिया। खजुराहों, अजयगढ़,मोहेन्द्रा, चन्देरी, अहार, तेहरी, दमोह, उज्जैन, गन्धरावल, ग्यारसपुर, धानपुरा, ग्वालियर तथा अन्य कई स्थानों से जैन प्रतिमा-विधान के अध्ययन के लिए प्रभूत सामग्री प्राप्त हुई है। चन्देल नरेश कला के भारी प्रश्रयदाता थे। अजयगढ, महोबा, कालिंजर आदि में अनेक जैन मन्दिर बने। कालान्तर में जैन आचार्यों ने भी वहाँ अपने पीठ स्थापित किए। मध्यप्रदेश की जैन कला में प्राय: वही सब गुण-दोष हैं जो वहाँ से सम्बन्धित अन्य धर्मों की तत्कालीन कलाकृतियों में पाये जाते हैं।

—

(११) जैन कला के विवेचन में कला-प्रवणता के पुनर्स्थापन की आवश्यकता

(श्री माइखेल नीइस्टर)

पाश्चात्य विद्वानों ने दार्शनिक एवं कलात्मक दोनों ही दृष्टियों से जैन धर्म के विवेचन के साथ न्याय नहीं किया क्योंकि उसका दर्शन उन्हें अत्यन्त निषेधात्मक और उसकी कला अत्यन्त नीरस लगी। जैन विद्वान् अब भी साम्प्रदायिकता में सीमित हैं तथापि उनका उत्कट वैदृष्य अब विदेशी विद्वानों के आदर का पात्र बनता जा रहा है और वास्तविक जीवन में जो जैनधर्म का प्राणवान एवं व्यापक महत्व है उसे समझने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। नीरस, रूखा, जड़ और कल्पनाविहीन कहकर जो जैन कला की अवहेलना की जा रही है, वह न उचित ही है, न तर्क पूर्ण, न वैज्ञानिक और न ऐतिहासिक ज्ञान की परिचायक ही है।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जैन कला तत्तद स्थानीय कला-शैलियों और विधाओं पर निर्भर रही है और उसके दोष-गुणों का कोई सम्बन्ध जैन धर्म के साथ नहीं है। जैन कला के सौंदर्यबोध का आलोचनात्मक निर्णय हमें उसकी व्यापक शैली और प्रतिमाविधान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर करना चाहिए, जिससे कि वह समान शैली की हिन्दू कला से भिन्न सिद्ध होती है। क्षेत्र एवं इतिहास सम्बन्धी तथ्यों में विभेद करता हुआ पुरातात्विक ज्ञान जैन कला के सौंदर्य बोध के मूल्यांकन में बहुत सहायक हो सकता है। बौद्ध कला की भांति जैन कला रोमन, यूनानी या रैनेसान्स अथवा प्रतिहार, चालुक्य व चोलर कला की भांति किसी एक शैली के विकास पर निर्भर नहीं रही वरन् एक विशिष्ट सांस्कृतिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण की विविध शैलियों में अभिव्यक्त होती रही हैं। पात्र नहीं वरन् पात्र में भरा द्रव्य जैन कला का स्वरूप प्रकट करता है।

इस प्रकार पुरातत्व और इतिहास किसी कलाकृति के जैन रूप का मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है क्योंकि वह जैन रूप ऐतिहासिक या प्रादेशिक शैली विशेष के माध्यम से ही यथार्थ रूप में जाना जा सकता है। अस्तु जैन कला के जैन रूप का सौंदर्य बोधात्मक मूल्यांकन करने के लिए एक सुनिश्चित विधा का अनुसरण करना चाहिये यथा—हमें उस स्थानीय अथवा ऐतिहासिक शैली का बोध होना चाहिए जिसका कलाकृति विशेष एक उदाहरण है। दूसरे हमें उक्त मूर्ति के प्रतिमा विधान एव पूजा सम्बन्धी आवश्यकताओं का ज्ञान होना चाहिये। तीसरे इन दोनों सीमाओं के भीतर उक्त मूर्ति के शिल्प कौशल तथा सौन्दर्य गुण का मूल्यांकन करना चाहिए। कलाकृति विशेष के सौन्दर्य के प्रभाव के मूल्यांकन करने के लिए उस विशिष्ट गुण पर भी ध्यान देना चाहिये जो जैन कला की कुछ सर्वश्रेष्ठ कृतियों को एक अद्वितीय एवं प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करती है। विभिन्न शैलियों में विभिन्न उपादानों के प्रयोग से निर्मित जैन कला कृतियों में जो एक समानतत्व दृष्टिगोचर होता है उसका कारण जैनदर्शन का अपना निरालापन ही हो सकता है। उदाहरणार्थ हलेबिड का प्रसिद्ध जिनमन्दिर का, जो होयसल कला का प्रतिनिधित्व करता है और जिस पर चालुक्य-कला का भी प्रभाव है, उल्लेख किया जा सकता है। इसी प्रकार विजयनगर के कई जिनमन्दिरों का उल्लेख किया जा सकता है। भारतवर्ष में शुद्ध भावात्मक और सादे स्थापत्य शिल्प के यह श्रेष्ठ नमूने हैं, जबकि राजस्थान के राणकपुर का १५वीं शती का जिनमन्दिर अपने अत्यन्त एवं विस्तृत अलंकरण के कारण उपरोक्त मन्दिरों से सर्वथा भिन्न शैली का है, तथापि विशेषतया जैन-कला का नमूना है।

१०वीं—११वीं शताब्दी में मध्य भारत के जैन मूर्तांकन भी अत्यधिक अलंकरण से पूरित हैं। जैनकला के विकास में चौमुखी प्रतिमाओं का भी उल्लेखनीय स्थान है जिनका एक सुन्दर मध्य-कालीन उदाहरण मध्यप्रदेश में कडवाह के निकट इन्दौर में विद्यमान है।

——

१२—कतिपय विचारणीय तथ्य

(डा० शशिकान्त जैन)

भारतीय प्रतिमा विधान में वृक्ष का विशेषस्थान है और वह जीवनी-शक्ति का, सन्तानोत्पत्ति का तथा जीवन की प्रगतिशीलता का प्रतीक है। जैनों और बौद्धों में वृक्ष का सम्बन्ध अर्हत पद की प्राप्ति से है। सभी तीर्थंकरों को केवलज्ञान किसी न किसी वृक्ष के नीचे ही हुआ, बुद्ध को भी। डा० शाह ने अकोटा से प्राप्त एक कांस्य वृक्ष का उल्लेख किया है और उन्होंने जैन परम्परा में वृक्ष का उपरोक्त महत्व ही सूचित किया है,

किन्तु मुझे कल्पवृक्ष की पूजा का एक सुनिश्चित सन्दर्भ मिला है। हाथी गुंफा शिलालेख के अनुसार सम्राट् खारवेल जब मथुरा की स्तूप पूजा के लिए गया तो वह अपने साथ कल्पवृक्ष की एक अनुकृति भी ले गया था। इससे सिद्ध होता है कि जैनों में दूसरी शती ई० पूर्व में भी कल्पवृक्ष की अनुकृतियों की पूजा का प्रचलन था। सम्भव है अकोटा से प्राप्त धातुमयी वृक्ष भी कल्पवृक्ष की ही अनुकृति हो।

१९५७ में जब मैं राजगृह गया था तो मैंने वहाँ वैभारगिरि पर एक प्राचीन मन्दिर के भग्नावशेषों में एक ऐसी तीर्थंकर-प्रतिमा देखी थी कि जिसके सिंहासन पर एक स्त्री करवट से लेटी अंकित थी। वहीं कृष्ण-पाषाण का एक ऐसा चौबीसी पट देखा जिसके सबमें ऊपरी पंक्ति में ७, उससे नीचे की पंक्ति में ८ और तीसरी पंक्ति में भी ८ जिन मूर्तियाँ थीं तथा मध्य में सिंहासनपर एक पद्मासन जिनमूर्ति थी, जिसके बाईं ओर विश्राम मुद्रा में लेटी हुई एक स्त्री मूर्ति अंकित थी। उसके पैरों की ओर एक परिचारिका पैर दबाती हुई दिखाई गई थी। उससे और नीचे एक लेटी हुई पुरुषमूर्ति थी। जिन प्रतिमा के दाईं ओर एक पुरुष उकड़ू बैठा हुआ था और उसके पास में दो बच्चों को गोद में लिए हुए एक स्त्री अंकित थी। सिरे पर एक पुरुषाकृति थी जो पूरे पट्ट को उठाए हुए दिखाई गई थी।

राजगिरि के पुराने श्वेताम्बर मन्दिर के भण्डार में एक अन्य ऐसी मूर्ति देखी जिसमें जिन-प्रतिमा के सिर के ऊपर एक लेटी हुई स्त्री अंकित थी। जिन-प्रतिमाओं में स्त्रियोंके इस प्रकार के अंकन जैन प्रतिमा विधान की दृष्टि से अद्भुत एवं विरल हैं।

कौशाम्बी (कौशाम्ब) के खण्डों में विभिन्न नापों के कई लेखांकित आसनपट्ट मिले हैं। लेखों से प्रगट है कि ये आसनपट्ट जैनगुरुओं के बैठने के लिए बनाये जाते थे। लेख वर्ष ८५ से लेकर ८८ तक के हैं। इन लेखों में जिन आर्यदेव का उल्लेख है वह लगभग उसी काल के मथुरा के शिलालेखों में उल्लिखित आर्यदेव से अभिन्न प्रतीत होते हैं, ऐसा डा० ज्योतिप्रसाद जैन का मत है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उनके द्वारा नामांकित सरस्वती आन्दोलन का विस्तार मथुरा से कौशाम्बी तक तो था ही।

मथुरा से प्राप्त राजकीय संग्रहालय की सरस्वती प्रतिमा जिस गोदोहन मुद्रा में बैठी हुई बनाई गई है वह जैन प्रतिमा विधान में अपना अकेला उदाहरण उत्तरकालीन हनुमान मूर्तियाँ कभी-कभी इस मुद्रा में बैठी पाई गई हैं।

लखनऊ संग्रहालय में एक पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ बैठी हुई, बिना सिर की, नग्न स्त्री मूर्ति सुरक्षित है। कुछ विद्वानों ने यह अनुमान प्रकट किया है कि यह किसी जैन स्त्री संत या तीर्थंकर की मूर्ति है, किन्तु वस्तुत: उस मूर्ति में तीर्थंकर या अर्हत् प्रतिमाओं का कोई भी चिन्ह लांछन, श्रीवत्स आदि नहीं हैं, उस पर कोई लेख ही अंकित है। डा० ज्योतिप्रसाद जैन का अनुमान है कि वह तपस्यारत पार्वती की, अथवा किसी योगिनी या जैनेतर स्त्री सन्त की मूर्ति हो सकती है।

—

१३—बादामी की जैन गुफा

(एस्चिवन लिप्पे)

बादामी की जैन गुफा नं० ४ बहुत कुछ वहां की ब्राह्मणीय गुफाओं नं० १ और २ से मिलती-जुलती है। शार्दूल - आकृति आधारों पर बने छज्जे, मकर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मुखों में से निकलती हुई छत की शहतीरें बराण्डे के वर्गाकार स्तम्भ और उनके कुम्भशीर्ष तथा अन्य अलंकरण प्रायः एक से हैं। बराण्डे के सिरे की दीवारें दो बड़े-बड़े प्रस्तरांकनों में अलंकृत हैं। बाईं ओर पार्श्वनाथ की प्रतिमा है जिसके एक ओर एक यज्ञोपवीत एव मुकुट धारी उपासक घुटने टेके बैठा है और दूसरी ओर छत्रदण्ड पकड़े हुए एक नागिनी खड़ी हैं। ऊपर एक नाग प्रदर्शित है। दूसरे सिरे पर बायीं ओर बाहुबली की खड्गासन प्रतिमा हैं जिसके पैरों पर लताएँ और सर्प चढ़ते हुए दिखाए हैं। इसमें भी उपासक एवम् सेवक आदि बनते-बनते अधूरे रह गए हैं। गर्भ गृह के द्वार पर दो मुकुटधारी द्वारपाल खड़े हुए हैं, जिनके एक हाथ में फूल और दूसरे हाथ में एक गुच्जक है। हमारी राय में इनके अलावा उस गुफा की और सब मूर्तियाँ उत्तरवर्ती हैं। सभा-मण्डप की सिरे की दीवालें चौड़े-कन्धों वाली उत्तुंग खड़ी हुई जिन-मूर्तियों से अलंकृत हैं, जिनके सिर पर तीन छत्र बने हैं। उनमें से एक अपने कन्धों तक लटकते हुए बालों के द्वारा आदिनाथ (ऋषभ) से चीन्ही जा सकती है। उनके दोनों ओर एक-एक तीन छत्रधारी खड्गासन लघु जिन-प्रतिमाएँ हैं और दो बैठी हुई। विशाल प्रभामण्डल में भी दोनों ओर खड़ी तथा बैठी जिन प्रतिमाओं की पंक्तियां हैं। फूल पत्ती, कीर्तिमुख आदि से ऊपर के भाग अलंकृत हैं। द्वारपालों के आजू-बाजू तथा हाल (भवन) के स्तम्भों पर भी जिनमूर्तियाँ अंकित हैं। गर्भगृह में एक विशाल पद्मासन तीर्थंकर प्रतिमा एक वृक्ष के नीचे बैठी बनाई है, जिसके दोनों ओर मुकुटधारी चौरी-वाहक हैं और ऊपर उड़ते हुए गंधर्व दिखाए गए हैं।

इस जैन गुफा की पुरानी मूर्तियां आदि ब्राह्मणीय गुफा नं० १ के समानान्तर हैं और उसे हम पुलकेसिन दि० (लगभग ६२५ ई०), का मानते हैं। एहोल का अधूरा मेगुति नामक जैन मन्दिर ६३४ ई० में बना था।

बादामी की यह गुफा भी अधूरी रह गई और इसकी तिथि हम ६३५ ई० के लगभग स्थिर कर सकते हैं। एहोल की शैव गुफा लगभग ६७०-८० ए० की है, अतः ऐहोल की जैन गुफा भी लगभग ६९०-७०० ई० की है। वसन्तगढ़ से प्राप्त आदिनाथ की कांस्य प्रतिमा ६८७ ई० की है और कलगूमल की सुन्दर पार्श्वनाथ प्रतिमा ८०० ई० के लगभग की है। पांड्य वरगुणवरमन प्रथम के समय की है। एलोरा की जिन-मूर्तियां ९वीं शती की, सम्भवतया राष्ट्रकूट अमोघवर्ष (८१४-६५ ई०) के काल की है। गंगो द्वारा निर्मित श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर की तिथि ९८३ ई० है।

अस्तु, बादामी की जैन गुफा नं० ४ की मूर्तियों का दूसरा समुदाय पहले समुदाय से काफी पीछे का है और सम्भवतया होयसल युग - बारहवीं शती ई० लगभग का है।

—

(१४) समापन भाषण

(डा० मोतीचन्द)

इस द्वि-दिवसीय रोचक संगोष्ठी में विद्वान् इस निश्चित प्रयोजन को लेकर एकत्रित हुए थे कि जैन कला के विविध तत्त्वों पर विचार-विमर्श करें और भारतीयकला के विकास में उसका स्थान आंकने का प्रयत्न करें। स्वभावतः सर्वाधिक ध्यान प्रतिमाविधान (आइकोनोग्राफी) पर दिया गया, जो वास्तव में भारतीय कला के इतिहास का एक हौआ बन गया है। बौद्ध, जैन और हिन्दू, सभी धर्मों का विवेचन प्रतिमा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैधानिक दृष्टि से किया जाता है। मैं प्रतिमाविधान के महत्व को अस्वीकार नहीं करता, वास्तव में उसके बिना काम भी नहीं चलता। भारतीय कला के इतिहास का वह एक अनिवार्य अंग बन गया है क्योंकि यदि हम विविध रूपों के भाव को नहीं समझते तो प्रतिमा विशेष में उनके महत्त्व को भी न समझ सकेंगे। दुर्भाग्य से आज प्रतिमाविधान इन अनगिनत विभिन्न एवं विविध रूपों का अध्ययन मात्र रह गया है और इन रूपों की सख्या समयके साथ-साथ बढ़ती ही जाती है। आधारभूत ग्रन्थ-पाठों से उन्हें समझने में सहायता मिलती है किन्तु जितना परवर्ती ग्रन्थ होता है उतने ही प्रतिमावैधानिक रूप परिगुणित होते जाते हैं। देखना यह है कि कला के इतिहास के सामान्य विकास और धर्म विशेष के विकास से इनका क्या सम्बन्ध है।

युग विशेष में क्यों इतने अधिक विविध रूप प्राप्त होते हैं, यह तथ्य भी महत्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू प्रतिमाशास्त्र की वैकुण्ठमूर्तियों को लिया जा सकता है जो केवल पार्वतीय क्षेत्रों तक ही सीमित हैं, यद्यपि कतिपय रूप राजस्थान और पश्चिमी भारत में भी वहाँ से आए। शायद ही कोई विधान युग विशेष में हुए धार्मिक विकास के संदर्भ में प्रतिमाविधान की व्याख्या करना चाहता हो, अथवा इस पर विचार करना चाहता हो कि, कहाँ तक युग विशेष की सामाजिक व्यवस्था ने उक्त रूपों को जन्म दिया। प्रतिमाविधान का प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, प्रतिमाविधानिक रूपों का अनुसंधान उनकी सामाजिक, धार्मिक एवं प्रतीकात्मक सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में करना चाहिए। बनस्की नामक विद्वान ने प्रतिमा विज्ञान को एक सुनिश्चित आधार प्रदान किया है, और जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस देश में शायद ही किसी विश्वविद्यालय में इस प्रकार के अध्ययन की सुविधा हो। देखना यह है कि विविध प्रतिमावैधानिक परिकल्पनाओं का, जो मध्यकाल में हिन्दू धर्म में ही नहीं वरन् बौद्ध और जैनधर्म में भी प्राप्त होती हैं, क्या आधार है, और उनकी किस प्रकार व्याख्या की जाय। इस प्रकार के अध्ययन के लिए उपयुक्त भाषा ज्ञान की भी आवश्यकता है, मात्र अनुवादों से काम नहीं चल सकता।

मैं यह चाहता था कि इस संगोष्ठी में कोई विद्वान् जैन चित्रकला के विकास पर भी प्रकाश डालता। आइकोनोग्राफी अपने सर्वोत्तम रूप में भी एक अति नीरस विषय है, किन्तु जब आपका सामना रंगों, रेखाओं, प्राकृतिक दृश्यों इत्यादि चित्रकला के उपादानों से होता है तो आपका सौंदर्य बोध कहीं अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करता है। यदि आनन्दकृष्ण, जो इस संगोष्ठी में भाग लेने वाले थे, आ जाते तो वह वे सब स्लाइड भी साथ लाते जिनकी सहायता से यह जाना जा सकता कि १५वीं-१६वीं शताब्दी में किस तरह जैनकला ने उस कला की परम्पराओं को जीवित रक्खा जो कि अब प्राय: सर्वत्र, विशेषकर उत्तरी एवं पश्चिमी भारत में, मृत प्राय: हो चुकी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चित्रकला की जो परम्परा ८वीं-९वीं शताब्दी में समाप्त हो चुकी थी वह जैन कला के माध्यम से ही जीवित रही। पश्चिमी भारत, राजस्थान और सम्भवतया उत्तर प्रदेश में भी यह कला परम्परा बड़े वेग के साथ प्रवाहित रही। पश्चिमी भारत में तो जैनों और उनके शास्त्रभण्डारों ने उसे जीवित रक्खा। सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थ-प्रतियाँ भण्डारों में पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखी गई और केवल विशेष अवसरों पर यथा ज्ञानपंचमी एवं अन्य पर्वों में पूजार्थ बाहर निकाली जाती थीं। उन सचित्र जैन प्रतियों का मुगल शैली के चित्रों के साथ तुलनात्मक एवं सम्यक् अध्ययन किया जाय, विशेष कर उनके रेखात्मक स्वरूप का। कुछ विद्वान् इन रेखात्मक स्वरूप वाले चित्रों को परवर्ती काल का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानते हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है, अजन्ता के चित्रों में भी वह प्राप्त होता है।

पश्चिमी भारतीय कला में ईरानी तत्वों का भी समावेश हुआ, जो बहुत महत्वपूर्ण है। जैनों ने ही सर्वप्रथम कालकाचार्य कथा के चित्रों में ईरानी आकृतियों को प्रविष्ट किया। कल्पसूत्र आदि के चित्रों में ऐसी विदेशी आकृतियों का समावेश नहीं है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि १५वीं शताब्दी के मध्य के लगभग जैनों की आर्थिक समृद्धि के कारण ये सचित्र कृतियाँ बहुत विस्तार प्राप्त, शानदार तथा महार्घ होती गईं। इससे कला के तत्कालीन इतिहास का ही नहीं वरन् विदेशी संस्कृति से प्रभावित तत्कालीन समाज का भी बोध होता है। इन सचित्र प्रतियों के निर्माण में अनेक मूल्यवान पदार्थों का प्रयोग होता था और उन पर बड़ा धन व्यय किया जाता था। इस प्रकार इस कला के क्षेत्र में जनों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। १३वीं से लेकर १६वीं शती पर्यन्त की भारतीय चित्रकला का अध्ययन बिना जैन चित्रों के किया ही नहीं जा सकता। अब तक जो सचित्र प्रतियाँ प्रकाश में आई हैं उनमें से अधिकतर श्वेताम्बर भण्डारों से ही प्राप्त हुई हैं। इस विषय में दिगम्बरों की अपेक्षा श्वेताम्बर अधिक उदार सिद्ध हुए हैं।

जौनपुर से प्राप्त १५वीं शती का सुप्रसिद्ध सचित्र कल्पसूत्र इस दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण है कि वह न केवल १५वीं शती का एकमात्र उदाहरण है बल्कि यह भी प्रमाणित करता है कि उत्तर प्रदेश में भी उस युग में जैन चित्रकला प्रगतिशील थी और कम से कम जौनपुर में एक ऐसा जैन भण्डार भी था जिसके तत्वावधान में वे चित्र बनाए गए। १४६५ ई० का यह सचित्र कल्पसूत्र भारतीय कला की दृष्टि से भी बहुत महत्व पूर्ण है और यह भी सिद्ध करता है कि राजस्थानी शैली भी उस काल में विकसित होने लगी थी।

मेरी एक छात्रा श्रीमती सरयू दोषी जो स्वयं दिगम्बर जैन है मेरे निर्देशन में दिगम्बर जैन सचित्र ग्रन्थ प्रतियों पर पी-एच० डी० के लिए शोध कार्य कर रही है। इसके पूर्व मुझे महापुराण की १५३० ई० की एक प्रति का तथा दिल्ली से प्राप्त एक अन्य प्रति का ही ज्ञान था। किन्तु श्रीमती दोषी ने इतनी सारी दिगम्बर सचित्र ग्रन्थ प्रतियाँ खोज निकाली हैं कि मैं आश्चर्य में रह गया। कला की दृष्टि से भी उनके चित्र उच्चकोटि के हैं। जैन भण्डारों के साथ एक बड़ी कठिनाई यह है कि वे अपनी ग्रन्थ सूचियों में ग्रन्थ के नामादि का उल्लेख तो कर देते हैं परन्तु यह नहीं उल्लेख करते कि वह ग्रन्थ सचित्र है या नहीं। अतएव श्रीमती दोषी ने मेरी प्रेरणा पर एक अनेक भण्डारों का निरीक्षण किया और जो सामग्री उसने संग्रह की हैं उसके आधार पर निश्चय ही चित्र कला के इतिहास में एक नवीन अध्याय जुड़ जायगा और इस कला के क्षेत्र में दिगम्बर जैनों का जो प्रभूत योगदान रहा है वह भी प्रगट हो जायगा। यह ग्रन्थ प्रतियाँ १४०४ ई० से लेकर १७वीं शती पर्यन्त की हैं। इनमें महापुराण, जसहर चरिउ आदि अनेक ग्रन्थ हैं। इस खोज से इस मान्यता का भी पूर्णतया खण्डन हो जाता है कि जैनों का मात्र केवल एक सम्प्रदाय ही चित्रकला के क्षेत्र में क्रियाशील था। केवल महापुराण की ५-६ पर्याप्त पुरानी सचित्र प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। इस सामग्री के प्रकाशित हो जाने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतवर्ष में जैनों के विभिन्न सम्प्रदाय चित्र-कला के प्रचार में कितना अधिक योगदान कर रहे थे। मुस्लिम सुल्तानों के शासन काल में जबकि प्राय: समस्त भारतीय कला मृत प्रायः हो रही थी, सम्भवतया जैन लोग ही ऐसे सौभाग्यशाली थे कि वे कला को जीवित रखने और समृद्ध बनाने में समर्थ रहे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित कला के अध्ययन करने के लिए उसकी संस्कृति और साहित्य का सम्यक् अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। हम लोग जो बूढ़े हो चुके हैं अपने समय में अत्यन्त परिश्रम पूर्वक अध्ययन और खोजबीन करते थे। स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मेरे साथ बड़ा सहयोग रहा। जैन कला एवं पुरातत्व की ओर मेरा आकर्षण एक संयोग था—अपने एक एक छात्र के कारण पूरे दो वर्ष तक मुझे बड़े परिश्रम पूर्वक जैन धार्मिक साहित्य का अध्ययन करना पड़ा और इसके फलस्वरूप ही मेरी इन विषयों में साधिकार गति हुई। एक यह भी कठिनाई है कि प्राचीन अप्रकाशित ग्रन्थों को भी प्रकाशित करना बड़ा व्यय साध्य होता है। अतः विद्वान् और विद्यार्थी उनके उपयोग से वंचित रहते हैं। इधर कुछ वर्षों से अवश्य ही जैनों में यह प्रकाशन प्रवृत्ति बढ़ी है। भगवान् महावीर के २५००वां निर्वाण-महोत्सव मनाया जाने वाला है। हमें यह ध्यान रखना है कि २५०० वर्ष की शिक्षा केवल बाहरी धूम-धाम आडम्बर और दिखावे में समाप्त न हो जाय, वरन् कुछ ऐसा ठोस कार्य किया जा सके, जिससे कि जैन विद्या (जैनोलॉजी) के क्षेत्र में इतनी सामग्री उपलब्ध करा दी जाय कि जिससे आने वाली संततियाँ भी लाभ उठा सकें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शोधकरण

—डा० ज्योतिप्रसाद जैन

१—जैन गुफाएं तथा गुफामन्दिर—

भगवान महावीर की परम्परा के प्रारम्भिक जैन साधु कई शताब्दियों पर्यन्त वनवासी होते थे, वस्तियों में केवल आहार ग्रहण करने के लिए जाते थे, और किसी एक स्थान में अधिक समय तक नहीं ठहरते थे। वे निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ तपोधन श्रमण अपने अस्थायी निवास के लिए भी बहुधा पहाड़ियों में बनी प्राकृतिक गुफाओं का उपयोग करते थे। इस प्रकार की अधुनाज्ञात प्राचीनतम गुफाएं मध्यप्रदेश के रायगढ़ जिले के सिंहनपुर, बिहार प्रान्त के बारबर एवं राजगिरि गुजरात के गिरिनगर (गिरनार), महाराष्ट्र के मोहिदा, आन्ध्र-प्रदेश के रामकोंड तथा तमिलनाडु में पुडुकोट्टा के सित्तनवासल नामक स्थानों में विद्यमान हैं। सित्तनवासल की कतिपय गुफाओं में पालिशदार पाषाण शैय्याएँ पाई गई जो सम्भवतया सल्लेखनाव्रत धारण करने वाले जैन मुनियों के उपयोग में आती थीं। वहाँ प्राप्त दूसरी-तीसरी शती ईसापूर्व के ब्राह्मी अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि वहाँ कोई बड़ा जैन अधिष्ठान था जहाँ उपासक लोग साधना के लिए जाते थे। लगभग ६०० ई० में पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन प्रथम, जो प्रारम्भ में जैन था, के शासनकाल में सित्तनवासल की पहाड़ी के पश्चिमी ढाल पर सुन्दर कृत्रिम गुफा-मन्दिर उत्खनित किये गये।

तीसरी-चौथी शती ई० से जैन मुनियों में चैत्यवास की प्रथा का प्रचलन बढ़ने लगा, जिसके परिणाम स्वरूप इस प्रकार की कृत्रिम लेणों या गुहामंदिर अधिकाधिक बनने लगे। जैसा कि इस प्रसंग में विन्सेन्ट स्मिथ का कथन है, 'प्रयोजन विशेष के लिए निर्मापित स्थापत्य का स्वरूप समय के साथ बदलती हुई व्यवहारिक आवश्यकताओं से प्रभावित होता ही है।' तथापि क्योंकि ब्राह्मणों एवम् बौद्धों के विपरीत जैन साधु चैत्यवास को भी अच्छा नहीं समझते थे, अजन्ता और एलोरा के युग में भी जैनों ने अपेक्षाकृत बहुत थोड़े गुहा मन्दिर बनाये। वर्गेस के अनुसार, 'जबकि बौद्धों ने ७२० और ब्राह्मणों ने १६० गुहामन्दिर बनाये, जैनों के केवल ३५ ही ज्ञात है, जो सब दिगम्बर आम्नाय के हैं और पांचवीं से बारहवीं शती ई० के मध्य बने हैं।'

वस्तुत:, कुछ जैन गुहामन्दिर, यथा उड़ीसा की खण्डगिरि-उदयगिरि, मध्यप्रदेश में विदिशा के निकट उदयगिरि, बिहार में राजगिरि की पहाड़ियों में सोन भण्डार आदि तथा मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि के जैनगुहा मन्दिर पांचवीं-छठी शती ई० से पर्याप्त पूर्व निर्मित हो चुके थे। तदनन्तर सित्तनवासल, बादामी, एहोल, एलोरा, पटनी, नासिक, धाराशिव, अंकइ, जूनागढ़ तथा कुलुमुलु के जैन गुहामन्दिर बने। सोलापुर से लगभग ६० कि० मी० दूर स्थित धाराशिवकी लयण इन सबमें सर्वाधिक विशाल प्रतीत होती है, जबकि कुलुमुलु का गुहामन्दिर, जो अब शैवों के अधिकार में है, इस प्रकार की लयणों में एक श्रेष्ठ रत्न के रूप में वर्णित की गई है। नासिक की गुफाओं में अनेक कोठरियाँ एवम् कक्ष हैं—यहाँ राष्ट्रकूटों के शासनकाल में सुप्रसिद्ध आगमिक टीका-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कार स्वामी वीरसेन और जिनसेन की अध्यक्षता में एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण जैन ज्ञानकेन्द्र फलाफूला था। खानदेशस्थ अंकइ का गुहामन्दिर अपेक्षाकृतबहुत छोटा है किन्तु पुष्प पल्लवों पर नृत्यरत अप्सराओं के अतिसुन्दर कलापूर्ण अंकनों के कारण उल्लेखनीय है। एलोरा के जैन गुहा मन्दिरों—इन्द्रसभा एवं जगन्नाथ-सभा के अप्रतिम कलासौन्दर्य एवं कुशल संभोजना के लिये बर्गेस, ब्राउन आदि अनेक कलामर्मज्ञों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

जैन लेणों तथा गुहामन्दिरों पर कई विद्वानों ने यत्किंचित प्रकाश डाला है, किन्तु उनका अभी भी सर्वांग, व्यवस्थित एवं प्राविधिक अध्ययन तथा कलात्मक अध्ययन अभी भी अपेक्षित है।

नोट—लेख के सन्दर्भों के लिए देखें हमारी पुस्तक जैना सोर्सेज आफ दी हिस्टरी आफ एन्शेन्ट इण्डिया का परिच्छेद १२, बा० छोटेलाल जैन स्मृति-ग्रन्थ, पृ० ३५-४२ पर प्रकाशित हमारा लेख, तथा स्मिथ, बर्गेस, ब्राउन आदि विद्वानों के ग्रन्थ।

२—जैन भित्ति-चित्र—

अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला के क्षेत्र में भी जैनों का पर्याप्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अपने धर्मक्षेत्रों की हस्तलिखित प्रतियों में अनेक बार सुलेखन (कैलिग्राफ) के कमाल दिखाने के अतिरिक्त उक्त प्रतियों के आवरण पृष्ठ, ऊपर-नीचे रक्खे काष्ठादि के पट्टों, लिखित पृष्ठों के हाशियों आदि की रंगबिरंगी फूल-पत्तियों तथा विविध डिजाइन की सजावट से अलंकृत किये जाने के अनेक नमूने उपलब्ध हैं। कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथानक तथा कई पौराणिक चरित्रों एवं आख्यानों की सुन्दर सचित्र प्रतियाँ अहमदाबाद, ईडर, नागौर आदि के शास्त्र-भण्डारों में प्राप्त हुई हैं। इन सचित्र प्रतियों के लघु चित्रों के अलावा कुछ स्वतन्त्र लघुचित्र (मिनियेचर) भी प्राप्त हुए हैं। जैन लघुचित्र कला का विकास मध्यकाल में हुआ। श्री साराभाई नवाब एवं डा० मोतीचन्द्र प्रभृति कलामर्मज्ञ विद्वानों ने उक्त जैन-चित्रों का अध्ययन करके उनका मूल्यांकन भी किया है।

लघु चित्रों के बहुत पहले से जैनों में अपने जिनायतनों की भीतरी दीवालों को भित्तिचित्रों से अलंकृत करना प्रारम्भ कर दिया था। ईस्वी सन् के प्रथम सहस्राब्द में निर्मित कई जैन गुहामन्दिरों में कलापूर्ण भित्तिचित्रों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। दूसरे सहस्राब्द में गुहामन्दिरों का स्थान प्रायः पूर्णतः मन्दिर स्थापत्य ने ले लिया जिनमें बहुधा प्रस्तर शिल्प में ही कलापूर्ण विविध मूर्त्तांकन एवम् अलंकरण प्रयुक्त हुए, जिनमें से अनेक, यथा खजुराहो, देवगढ़, आबू (देलवाड़ा), राणकपुर, चित्तौड़, कर्णाटक आदि के) जिन मन्दिर अपने कला सौष्ठव की दृष्टि से सर्वोच्च कोटि के हैं। किन्तु मध्यकाल में भी अनेक मन्दिरों को भित्तिचित्रों से सज्जित करने का प्रचलन रहा और अब से सौ-पचासवर्ष पूर्व निर्मित अनेक मन्दिरों में भी हमने ऐसे भित्ति चित्र देखे हैं। उक्त प्राचीन मध्यकालीन जैनभित्ति चित्रों का अभी तक कोई सन्तोषजनक व्यवस्थित अध्ययन नहीं हो पाया, अतएव उनका समुचित मूल्यांकन भी नहीं हुआ, जो अपेक्षित है।

कुछ विद्वान, यथा डा० एस० परमशिवन्, ने दक्षिण भारत में उपलब्ध प्रमुख जैन भित्तिचित्रों को स्थूल रूप से चार वर्गों या समुदायों में विभाजित किया है।

१—सित्तनवासल के गुहामन्दिर के सातवीं शती ई० के क्लासिकल भित्तिचित्र।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ii) उत्तरी अर्काट जिले में तिरुमलइ के जिनमन्दिर के भित्ति चित्र जिन्हें कुछ विद्वान् ११वीं शती का अनुमान करते हैं —वहाँ प्राप्त शिलाजेखों के आधार पर। वहाँ ऐसे प्राचीनतर चित्रों के भी आभास पाये गये जिन्हें वर्तमान चित्रों ने ढक लिया है—अर्थात् वे उन पुराने चित्रों के ऊपर ही बनाये गये। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो इन चित्रों को १५वीं-१६वीं शती में वना अनुमान करते हैं। (iii) एलोरा की जैन गुफाओं के भित्ति चित्र जो ११वीं शती में अनुमान किये जाते हैं। (iv) तिरुपरुट्टिकुनरम् के जिनमन्दिर के भित्ति चित्र जिनकी निर्माणकाल १८वीं-१९वी शती अनुमान किया जाता है।

इनके अतिरिक्त, श्रवणबेलगोल के भट्टारकीय पीठ (मठ) की दीवारों पर भी अनेक भित्ति चित्र बने हैं। उत्तर एवं पश्चिम भारत के जैन भित्ति चित्रों पर अभी तक किसी विद्वान् ने ध्यान दिया नहीं लगता। उपरोक्त भित्ति चित्रों में सित्तन वासल के भित्ति चित्र भारतवर्ष में क्लासिकल शैली के भित्ति चित्रों की सर्वोच्च कोटि में परिगणित हैं।

नोट—संदर्भ के लिए देखें हमारी पुस्तक जैना-सोर्सेज़ परि० १२, बा० छोटेलाल स्मृतिग्रन्थ में डा० परमशिवन् का लेख (पृ० ११५), तथा कुमारस्वामी, डुबरियुल, स्मिथ आदि विद्वानों के ग्रन्थ।

३—बलगेरिया से प्राप्त एक तीर्थङ्कर कांस्य-प्रतिमा

बहुधा यह समझा जाता है कि जैनधर्म भारतवर्ष की सीमाओं से बाहर नहीं गया, इसी देश में सीमित रहा। इसमें तो सन्देह नहीं हैं कि प्राचीन काल में भारतीय धर्मों में बौद्धधर्म ही ऐसा सम्प्रदाय था जिसने एक अति सुनियोजित एवं व्यवस्थित ढंग से शताब्दियों पर्यन्त विदेशों में धर्मप्रचार किया, जिसके परिणाम-स्वरूप एक समय भारत को छोड़कर एशिया महाद्वीप का बहुभाग बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया। ब्राह्मण धर्म का प्रकाश भी पूर्वीय द्वीप समूह तथा कतिपय मध्य एशियाई देशों तक कुछ अंशों में पहुँचा। ब्राह्मण धर्म (हिन्दू धर्म) के नेताओं में भी इतिहासकाल में धर्म प्रचार की विशेष प्रवृत्ति नहीं रही। जैनों में तो यह प्रवृत्ति सबसे कम रही, और उसके कई कारण रहे — जैन साधु सर्वथा अपरिग्रही, निस्पृह तपस्वी होते, उनकी दीक्षा एवं साधना के नियम बड़े कठोर थे और आत्म साधन ही प्रधान लक्ष्य था। गृहस्थों में तो उस काल में धर्मप्रचार करने वाले मिशनरी शायद किसी परम्परा में नहीं थे। किन्तु कुछ साहसिक वीर पुरुष भाग्य की परीक्षा करने लिए विदेशों में चले जाते थे और कभी-कभी वहाँ अपना राज्य स्थापित करने में भी सफल हो जाते थे। उनके साथ उनके धर्म और संस्कृति का भी उक्त देशों मे प्रवेश हो जाता था। इसके अतिरिक्त अनेक भारतीय व्यापारी व्यापार के लिए जल एवं थल मार्ग से विभिन्न देशों को जाते-आते रहते थे, और उनके माध्यम से भी उनके धर्म एवं संस्कृति का वहाँ प्रवेश होता था।

ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आस-पास कतिपय जैन साधुओं के सुदूर, यूनान, रोम, मध्यएशिया आदि में जाने के उल्लेख मिलते हैं। सुदूरपूर्व के हिन्दचीन के कम्बुज, चम्पा आदि में भी जैस संस्कृति के प्रवेश के संकेत मिलते हैं। लंका, तिब्बत, नेपाल, बर्मा, मलाया, अफगानिस्तान आदि सीमावर्ती भारत के निकटस्थ देशों में जैनधर्म के कथंचित प्रसार के प्रमाण मिलते हैं। सुदूर साइप्रेस द्वीप में रेशेफ़ (ऋषभ) की एक प्राचीन प्रतिमा पूजी जाती रही है, ऐसा कहा जाता है। विदेशों में व्यापारार्थ जाने वाले व्यापारियों में जैन व्यापारियों की भी पर्याप्त संख्या होती थी अतएव उनके माध्यम से जैनधर्म का सम्पर्क अनेक भूभागों से हुआ होगा, जिसके चिन्ह अन्वेषण करने से प्राप्त होने की पूरी सम्भावना है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभी हाल में एक यूरोपीय पत्रिका में प्रकाशित एक जर्मन पुरातत्वज्ञ विद्वान के लेख से पता चलता है कि पूर्वी यूरोप के बलगारिया देश के उत्तर-पूर्वी भाग में रजग्राड नामक नगर से लगभग बीस मील की दूरी पर स्थित केवल नामक स्थान से सन् १९२८ में एक जैन कांस्य प्रतिमा प्राप्त हुई थी। यह प्रतिमा रजग्राड के पुरातत्त्व संग्रहालय में संग्रहीत कर दी गई थी—यह स्पष्ट नहीं है कि अब भी वह विद्यमान है या नहीं। उसके जो रेखांकन, चित्र, विवरण आदि वहाँ उपलब्ध थे उन्हीं के आधार पर उक्त परिचय दिया गया। प्रतिमा अनुमानतः ८वीं से से १२वीं शती ई० के मध्य किसी समय निर्मित हुई अनुमान की जाती है।

यह प्रतिमा किसी पुराने खण्डहर में से जमीन में लगभग अढ़ाई फुट गहराई पर दबी हुई मिली थी। खोद निकालने वाले अधिकारी अनाड़ी थे जिसके कारण प्रतिमा की आकृति काफी क्षतविक्षत होगई। प्रतिमा लगभग छः इन्च (१३½ से० मी०) ऊँची है और तीन कटनियों वाले सिंहासन पर विराजमान है। सबसे नीचे की कटनी तीन त्रिकाणाकार पाओं पर आधारित है। दूसरी कटनी में मूलतः चार छोटी-२ पुरुषाकृतियाँ थीं। जिनमें से एक ग़ायब हो गई—ये आकृतियाँ उपासकों की रही प्रतीत होती हैं। उससे ऊपर की कटनी अति अलंकृत हैं। मध्य में एक छोटी सी यजारूढ़ स्त्री आकृति है—सम्भव है, शासन-देवता यक्षि हो। उसके दोनों ओर एक-एक सर्प जैसा बना है, तदनन्तर दोनों ओर एक-एक सिंह बना है, फिर एक-एक सुन्दर स्तम्भ तथा दोनों सिरे पांच-पांच बिन्दुओं में अंकित आड़े अर्धगोलावृत्त बने हैं। इस कटनी के ऊपर अलंकृत पादपीठ है जिसके मध्य में लांछन के लिए बना चतुष्कोण है, किंतु सब इतना घिसा हुआ है कि कुछ स्पष्ट नही होता। उसके ऊपर मूलप्रतिमा ध्यानमुद्रा में पद्मासनस्थ है, वक्षस्थल पर श्रीवत्सलांछन युक्त है और कानों के ऊपर से आती हुई घुंघराली लटें दोनों कन्धों पर पड़ी हैं—जिससे हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा है। विद्वान लेखक का अनुमान है कि दूसरी कटनी के नीचे की झालर त्रिकोण डिजाइन यह सूचित करते है कि प्रतिमा निर्माण स्थल कश्मीर रहा होगा तथा क्योंकि उसकी अन्य विशेषताओं का साम्य मथुरा से प्राप्त ९८१ तथा १०७७ ई० की प्रतिमाओं से बहुत कुछ है, वह प्रायः ८वीं से १२ वीं शतीके मध्य किसी समय निर्मित हुई होनी चाहिये। सुदूर बलगारिया में वह कब और कैसे पहुँची, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। विद्वान लेखक का यह भी कहना है कि क्योंकि पूर्वयुगों में जैन व्यापारी दूर-दूर देशों की यात्रा करते थे, उन्हीं के माध्यम से यह प्रतिमा वहाँ पहुंची लगती है। यह बहुत कुछ युक्तियुक्त प्रतीत होता है। क्या आश्चर्य है कि पूर्व मध्यकाल में उस स्थान में भारतीय जैन-व्यापारियों की कोई छोटी अस्थायी बस्ती रही हो और उन्होंने वहाँ एक छोटा सा जिनमन्दिर स्थापित किया हो।

नोट—सन्दर्भ के लिए देखें ईष्ट-वैस्ट, XX, I 3-4 पृ० २१५-२१६ पर गस्टाव ग्लेसर द्वारा अनूदित वी० ब्रेन्टजेस का जर्मन लेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शोधसार

(२७१) 'ईस्ट एण्ड वेस्ट', भाग १९ न० ३-४ (सित०-दि० १९६९) के पृ० ५२६ पर श्री हरिसत्य भट्टाचार्य रचित पुस्तक 'रिअल्स इन दी जैना मेटाफिजिक्स' की समीक्षा प्रकाशित हुई है। विद्वान इलालवी समीक्षक के अनुसार पाश्चात्यदर्शन में जिसे 'इतिहास-भाव' कहते हैं वह जैन कर्म सिद्धान्त का ही एक उदाहरण कहा जा सकता हैं, अत: आज आवश्यकता है कि सम्पूर्ण मानवी संस्कृति के क्षेत्र में व्यापक युक्ति-युक्तवाद के पूरे बल से इस सिद्धान्त का समर्थन अनुमोदन किया जाय ।'

(२७२) इसी पत्रिका के भा०, न० १-२ (मार्च-जून १९७०) के पृ० १२२-१४३ पर श्री मरेरा का लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें श्री लंका में स्थित अनुराधापुर के ईसरुमुनिय नामक मन्दिर की विचित्र मूर्त्ति को चीन्हने का प्रयत्न किया गया है। प्रसंगवश यह बताया गया है कि लंका में अनुराधापुर के निकटस्थ अभय-गिरिय नामक बौद्ध विहार जिस स्थान पर बना है वहां उसके पूर्व एक निगण्ठ (जैन) अधिष्ठान विद्यमान था—अब वहां जैनधर्म के कोई चिन्ह नहीं हैं ।

(२७३) इसी पत्रिका के भा० २०, न० ३ (सित० १९७०) के पृ० ३६३-३७४ पर श्रीमार्टन-स्मिथ का एक उत्तम लेख 'यूरोपीय एवं भारतीय परम्परागत संस्कृतियों में साहित्य का स्थान' विषय पर प्रकाशित हुआ है, जो जैन संस्कृति पर भी लागू होता है—कहीं-कहीं जैन का उल्लेख भी है ।

(२७४) इसी पत्रिका के पृ० ४०१-४०३ पर ओस्कर बोट्टो द्वारा सम्पादित प्राच्यसाहित्य के वृहद इतिहास की समीक्षा प्रकाशित हुई है, जिससे प्रगट है कि मूलग्रन्थ जैन-धर्म, जैन-साहित्य और जैन इतिहास की कतिपय घटनाओं का उल्लेख हुआ है, उदाहरणार्थ दिग०—श्वे० संघ भेद की तिथि ईसापूर्व ७९ दी है जबकि वह ७९ ई० होना चाहिये । समीक्षक ने बताया है कि यह गलती अन्य भी कई यूरोपीय विद्वान् ने की है ।

(२७५) इसी पत्रिका के भा० २०, न० ४ (दिस० १९७०) के पृ०४८८ पर हेलेन एम०जान्सन द्वारा हेमचन्द्राचार्य कृत त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित् के भाग ५ की समीक्षा प्रकाशित हुई है ।

(२७६) इसी पत्रिका के पृ० ४८९ पर आगम प्रभाकर मुनि पुण्यविजय एवं भोगीलाल जे० सन्डेसरा द्वारा सम्पादित सोमेश्वर कविकृत रामशतकम् काव्य की समीक्षा है ।

(२७७) इसी पत्रिका के पृ० ४८९ पर के आश्रित कवि हरिहर द्वारा रचित ऐतिहासिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाटक 'शंख-पराभव-व्यायोग' के श्री-भोगीलाल सन्डेसरा द्वारा सम्पादित संस्करण की, जो गायकवाड़ ओ० सीरीज में प्रकाशित हुआ है, समीक्षा प्रकाशित हुई है।

(२७८) इसी पत्रिका के भाग २१, न० ३-४ (सित०-दिस० १९७१) के पृ० २१३-२१६ पर प्रकाशित गस्टाव ग्लेयस्सर द्वारा अनूदित श्री ब्रेन्ट्जेज के एक लेख में बल्गारिया स्थित तीन स्थानों के प्राचीन मन्दिरों का विवरण देते हुए केमल नामक स्थान से प्राप्त लगभग आठसौ वर्ष पुरानी एक जैन कांस्य प्रतिमा का सचित्र परिचय दिया है।

(२७९) इसी पत्रिका के पृ० ३३१-३३६ पर श्री एम०के० धवलीकर का लेख अफगानिस्तान से प्राप्त दो गणेश मूर्त्तियों पर प्रकाशित हुआ है, जिसमें प्रसंगवश विद्वान् लेखक ने कथन किया है कि जैनधर्म ने भी हिन्दू-धर्म से उधार लेकर गणेश को अपनाया और जैनोंमें गणेश पूजा का प्रचलन हुआ।

(२८०) इसी पत्रिका के पृ० ३६३-३७५ पर पॉल जी० ब्रूस्टर का एक प्रसिद्ध लोककथा 'साइलेन्स वेजर' के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित हुआ है। यह लोककथा दूर-दूर तक विभिन्न देशों में प्रचलित है। लेखक का कहना है कि इस कथा का ढांचा सर्वप्रथम १००० ई० के लगभग रचित जैनाचार्य अमितगति की धर्मपरीक्षा चार सहयात्री मूर्खों की कहानी में प्राप्त होता है।

— —

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शोक संवेदन

शोधांक—३० के प्रकाशन के उपरान्त गत वर्षांश में ऐसे कई सज्जनों का निधन हो गया जो विद्वान् थे, विद्वत्प्रेमी या विद्याप्रेमी थे, अथवा उत्साही समाज सेवी थे, और जिनके साथ हमारा प्रायः घनिष्ट परिचय रहा।

शिमला निवासी डिप्टी—पोस्ट मास्टर अयोध्या प्रसादजी २५ फरवरी ७२ को ७५ वर्ष की आयु में कालकवलित हुए। वे जैन सभा शिमला के वर्षों से प्रधान स्तम्भ थे, उत्साही समाजसेवी थे और १९३७ में जब हमें कई महिने शिमले में रहने का सुयोग मिला था, तभी से हमारे घनिष्ट मित्रों में रहे।

व्याख्यान वाचस्पति पं० मक्खनलालजी'प्रचारक' को हम बचपन से ही जानते—देखते आये, बड़ा प्रेम रखते थे। जिस संस्था से सम्बद्ध थे उसका प्रचार करने के साथ-साथ जैनधर्म का प्रचार तथा समाज का सुधार जिस रोचक एवं प्रभावक ढंग से वह करते थे वह अप्रतिम था। अनेक लोकप्रिय भजनों एवं कई छोटी-मोटी रचनाओं के रचयिता भी थे। १७ जून ७२ को ६४ वर्ष की परिपक्व अवस्था में दिल्ली में उनका देहासान हुआ।

बाराबंकी जैन समाज के प्रमुख सेठ भँवरीलाल छावड़ा के युवक पुत्र महावीरप्रसाद का मात्र २८ वर्ष की अल्पवय में १८ जून ७२ को दुःख निधन हुआ। महावीर प्रसादजी एक उत्साही समाजसेवी नवयुवक थे। गत महावीर जयन्ती के अवसर पर जब वह और उनके साथी हमें व्याख्यान देने के लिए बाराबंकी ले गये तभी उनके शीलस्वभाव, प्रेमभाव एवं सामाजिक कार्यों में उत्साह का प्रथम परिचय मिला था।

दिल्ली के ला० दीपचन्द्रजी बी. ए., मुन्शी फाज़िल अदीब फ़ाज़िल, 'जैन संसार', 'वर्द्धमान' जैसे उर्दू भाषा के जैन पत्रों के सफल सम्पादक थे। स्व० भोलानाथ दरख़्शाँ एवं ज्योतिप्रसाद 'प्रेमी की परम्परा में उर्दू के जैन पत्रकारों का इधर कई दशकों से वही प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उनके मित्र बा० माईदयालजी ने 'मिशनरी पत्रकार' के रूप में उनका उल्लेख उचित ही किया है। ७० वर्ष की आयु में २० जून ७२ को उनका देहान्त हो गया।

अशोकनगर निवासी चम्पालाल सिंघई 'पुरन्दर' के साथ हमारा विशेष सम्पर्क गत चार-पांच वर्षों से रहा। पी-एच. डी. के लिए अपने शोधकार्य में परामर्श, निर्देशन आदि प्राप्त करने के रूप में प्रारम्भ हुआ उनका यह सम्बन्ध पत्राचार द्वारा पर्याप्त बढ़ गया। शोधांक में भी उनके कई लेख प्रकाशित हुए और गत दो-डेढ़ वर्षों में तो उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेखों की बाढ़ ही लगा दी तथा दर्जनों दिवंगत तथा जीवित उल्लेखनीय व्यक्तियों के जीवन एवं व्यक्तित्व परिचय प्रकाशित कर दिये। हमारा परिचय देने की भी उन्होंने इच्छा व्यक्त की थी तथा तदर्थ कतिपय तथ्य मांगे थे, किन्तु हमने लिख दिया था कि अभी हम इस योग्य नहीं हैं, हमारा परिचय आदि प्रकाशित करने का कष्ट न करें। प्रारम्भ में उनके कुछ पत्रों से हमें लगा कि वह अधीर, उतावले से नवयुवक हैं—एक बार हमने पते में उनके लिए पण्डित विशेषण लिख दिया तो उन्होंने शिकायत की कि लोग उनका मज़ाक उड़ाते हैं, उन्हें हम पण्डित न लिखा करें। बाद में जब ज्ञात हुआ कि वह कैंसर रोग से पीड़ित एक प्रौढ़ सज्जन हैं तो हम उनके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाल सुलभ सारल्य, अद्‌भुत लेखन उत्साह एवं भद्रोचित व्यक्तित्व से बड़े प्रभावित हुए। मात्र ५४ वर्ष की वय नें पुरन्दरजी का निधन १६ सितम्बर ७२ को हो गया।

पं० इन्द्रचन्द्र शास्त्री भा० दि० जैन संघ मथुरा के साथ उसके एक परम उत्साही कार्यकर्ता के रूप में प्राय: प्रारम्भ से ही सम्बद्ध थे। लगभग २५-३० वर्ष से उनके साथ हमारा परिचय था जो गत १६ वर्षों में शोधांक को योजना के कार्यान्वियन व घनिष्टता में परिणत हो गया। सात-आठ वर्ष पूर्व जब हम मथुरा गये तो पण्डितजी और उनके परिवार के स्नेहपूर्ण अतिशय का लाभ मिला और रुग्ण होते हुए भी संघ के हित में वह कितने क्रियाशील हैं, इसका भी परिचय मिला। गत २ अक्तूबर ७२ को हुए उनके निधन से संघ एवं सन्देश का एक महान सेवक उठ गया। हम से जैनधर्म पर अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखाने का उनका बड़ा आग्रह था।

मास्टर उग्रसेन जी, जो मूलत: सरधना, जिला मेरठ, के निवासी थे, बड़ौत के जैन स्कूल में अध्यापक रहे, तदनन्तर दिल्ली, काशिपुर और अन्तत: कानपुर आ रहे जहाँ गत १८ नवम्बर ७२ को उनका देहान्त हुआ, भा० दि० जैन परिषद् के एक प्रधान स्तम्भ थे और परिषद् परीक्षा बोर्ड के तो सर्वेसर्वा थे, जिसकी मन्त्री के रूप में उन्होंने पूरे ४५ वर्ष सेवा की। हमारा और उनका घनिष्ट सम्पर्क भी लगभग ४५ वर्ष पुराना है और उनकी प्रेरणा से ही हमने परिषद परीक्षाबोर्ड की प्रवृत्तियों में सदा सहयोग दिया, उसकी पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण आदि में भी। भारतीय इतिहास : एक दृष्टि और कुमाँयु-रुहेलखण्ड डायरेक्टरी के निर्माण का तो प्रधान श्रेय उन्हीं की प्रेरणा एवं अथक्-निरन्तर तक़ाजों की है। हम पर उनका बड़ा स्नेह था। इधर कई मास से वह रुग्ण थे और कानपुर में अपने सुपुत्र श्री सलेकचन्द्र की पितृभक्ति एवं सेवा का लाभ उठा रहे थे।

उपरोक्त सभी महानुभावों के वियोग से संस्कृति एवं समाज के साथ-साथ हमारी व्यक्तिगत भी क्षति हुई है। इन सभी दिवंगत आत्माओं की सद्‌गति की कामना करते हुए हम उनके समस्त परिजनों के साथ संवेदना प्रगट करते हैं।

—ज्योतिप्रसाद जैन

भूल सुधार

शोधांक—३० के अन्त में प्रकाशित 'शोधांक २१-३० की लेखक-लेख-नामानुक्रमणिका के अन्तर्गत पृ० २८६ पर श्री गोपीलाल अमर के नाम के नीचे उनके लेख के रूप में 'देवागम स्तोत्र की खोज—पृ० १३१ (२४)' छप गया है, जो वास्तव में क्षुल्लक शीतलसागरजी का लेख है और पृ० २८८ पर उनके नाम के नीचे नं० ३ पर छपना चाहिये था। भूल के लिये हम क्षमार्थी हैं। पाठकगण अपनी प्रतियों में यह भूल सुधार लें।

सम्पादक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य परिचय एवं प्राप्ति-स्वीकार

दी हाथीगुफा इन्सक्रिप्शन आफ खारवेल एन्ड दी भाव्रु एडिक्ट आफ़ अशोक-ए क्रिटिकल स्टडी—

लेखक—डा० शशिकान्त जैन: प्रकाशक—प्रिन्ट्स इण्डिया, मोरी गेट, दिल्ली-६; प्र० सं० १९७१, बड़ा आकार, सजिल्द, पृ० सं० १११+xvi, १८ चित्र फलक, २ मानचित्र, मूल्य ३० रु०।

इस उच्चस्तरीय शोध-खोजपूर्ण पुस्तक में कलिंग चक्रवर्ती खारवेल के हाथीगुफा शि० ले० एवं मौर्य सम्राट् अशोक के भाव्रु शि० ले० का आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ईसापूर्व की तीन शताब्दियों के भारतीय इतिहास के लिए, विशेषकर तत्कालीन जैन एवं बौद्ध संस्कृतियों के इतिहास के लिए उक्त दोनों सुप्रसिद्ध अभिलेखों का सर्वोपरि महत्त्व है। गत डेढ़ सौ वर्षों में अनेक पाश्चात्य एवं पौर्वात्य प्राच्यविदों ने उन पर प्रभूत कार्य किया है। वर्तमान लेखक ने उन सबकी प्रतिपत्तियों एवं मतों की समुचित समीक्षा करते हुए अपने निष्कर्ष दिये हैं और कई मौलिक स्थापनाएँ की हैं। प्रकृत विषय पर शायद इससे उत्तम पुस्तक अभी तक प्रकाश में नही आई है। डा० रामकुमार दीक्षित तथा प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी जैसे प्रतिष्ठित भारतीय विद्वानों के अभिमत तथा डा० ए. एल. बाशम जैसे शीर्षस्थानीय विदेशी प्राच्यविद के प्राक्कथन से विद्वान् लेखक के इस सद्प्रयास का महत्त्व भली प्रकार प्रगट है। पुस्तक के प्रारम्भ में डायक्रिटिकल संकेत सूची और अन्त में परिशिष्टों के रूप में खारवेल के अभिलेख की नागरी लिपि में अनुकृति तथा संशोधित पाठ का हिन्दी रूपान्तर, वर्गीकृत सहायक ग्रन्थ सूची, कालनुक्रमणिका, ब्राह्मीलिपि का नागरी एवं रोमन लिपियों में रूपान्तर चार्ट, नामानुक्रमणिका, १९ चित्रफलक एवं दो मानचित्रों से पुस्तक की उपयोगिता में अतिशय वृद्धि हुई है। कागज़, मुद्रण, सुन्दर आवरण पृष्ठ सहित साज-सज्जा—सभी दृष्टियों से प्रकाशन पुस्तक के महत्व के अनुरूप अति उत्तम हुआ है।

ब्रह्मनीकल स्कल्पचर्स इन स्टेट म्यूज़ियम लखनऊ—

संपादक—डा० नी० पु० जोशी; प्र०—राजकीय संग्रहालय लखनऊ; प्र० सं० १९७२; बड़ा आकार, सजिल्द, पृ० सं० १३२+XVI; ६९ चित्र फलक, अनेक रेखाचित्र।

राजकीय संग्रहालय में संग्रहीत ब्राह्मणीय मूर्त्ति कलाकृतियों की सूची का यह प्रथम भाग संग्रहालय का एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है तथा उसके निदेशक डा० जोशी के परिश्रम एवं सद्प्रयास का सुपरिणाम है। प्रारम्भ में ५ पृष्ठ का प्राक्कथन तथा ७५ पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण विस्तृत प्रस्तावना है जिसमें ब्राह्मण परंपरा के देवी-देवताओं की संख्या वृद्धि, मूर्त्ति एवं मूर्तिपूजा, प्रतिमाविधान तथा प्रमुख-प्रमुख १९ देवमूर्तियों की प्रतिमावैधानिक विशेषताओं का उपयुक्त रेखांकनों की सहायता से विशद विवेचन किया गया है। तदनन्तर सूची में क्रमवार कलाकृतियों का परिचय दिया है और अन्त में उनके ६९ चित्रफलक दिये हैं। सूची मे मथुरा कंकाली टीले से प्राप्त जैन सरस्वती की तथा तीर्थंकर नेमिनाथ के पीरकर में उत्कीर्ण बलराम की मूर्त्तियों को भी सम्मिलित कर लिया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया है ? इसी प्रकार सूचीगत कतिपय नाग-नागि. यक्ष, लोकपाल आदि की तथा अनचीन्हीं मूर्त्तियों का भी जैन परम्परा सम्बन्ध हो सकता है। कागज,मुद्रण आवरण, साजसज्जा उत्तम है। इस उपयोगी प्रकाशन के लिए डा० जोशी धन्यवाद के पात्र हैं।

दी फिलासिफी आफ श्री स्वामी नारायण

ले०—डा० जे० ए० याजनिक; प्र०—ए० डी० इन्स्टीट्यूट आफ इन्डोलाजी, अहमदाबाद; प्र० सं० १९७२, बड़ा आकार,सजिल्द,पृ० सं० १८३+XVI मूल्य ३० रु०।

इस शोध प्रवन्ध में १९वीं शती ई० के प्रथम पाद के एक गुजराती सन्त, श्री स्वामिनारायण अपरनाम स्वामि सहजानन्द (१७८१—१८३० ई०) के स्फुट प्रवचनों एवं उपदेशों के आधार से उनके दार्शनिक सिद्धांतों का निरूपण करने का सफल प्रयत्न किया गया है। यह स्वामी रामानन्द के शिष्य थे और स्वामी नारायण सम्प्रदाय के संस्थापक थे तथा इतने प्रभावशाली थे कि मृत्यु के समय तक इनके लगभग पाँच लाख गृहस्थ और पांच सौ साधु शिष्य हो गये थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में विद्वान लेखक ने प्रावेशिक, ज्ञानमीमांसा, तत्त्वज्ञान, तथा मनोविज्ञान-धर्म-आचार शास्त्र शीर्षक चार भागों में विभाजित १८ परिच्छेदों में प्रकृत विषय पर यथाशक्य विशद प्रकाश डालने का तथा अपने नायक के धर्म-सम्प्रदाय को एक व्यवस्थित दार्शनिक आधार अथवा रूप प्रदान करने का प्रयास किया है। प्रारम्भ में संस्था के निदेशक एव ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक प्रो० दलसुख मालवणिया का प्राक्कथन और अन्त में नामानुक्रमणिका है। कागज, मुद्रण, प्रकाशन उत्तम है। ग्रन्थ पठनीय एवं संग्रहणीय है।

नेमिनाह चरिउ (भाग २)—

रचयिता—हरिभद्र सूरि: सम्पादक—प्रो० एच० सी० भायाणी एवं प्रो० एम० सी० मोदी; प्र०—ला० द० भा० सं० विद्यामन्दिर अहमदाबाद; प्र० सं० १९७१, बड़ा आकार, सजिल्द, पृ० सं० ३०६, मूल्य ४० रु०।

ला० द० ग्रन्थमाला न० ३३ के रूप में प्रकाशित यह ग्रन्थ शोधांक ३१ के पृ०सं०२७६ पर समीक्षित १२वीं शती के हरिभद्र सूरि कृतअपभ्रंश महाकाव्य का शेषांश है। प्रथम भाग के १९२९ छन्दों में भ० नेमिनाथ के ८ पूर्वभवों का वर्णन था और आगे के १९३०-३३१० छन्दों (कडवकों) में उनके अन्तिम (९वें) भव का वर्णन है। ग्रन्थपाठ का सम्पादन स्तरीय है, टाइप, कागज, मुद्रण आदि उत्तम है। किन्तु प्रथम भाग में यह सूचित किया गया था कि ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार विषयक विस्तृत विवेचन द्वितीय भाग की प्रस्तावना में किया जायेगा- ऐसी कोई प्रस्तावना इस भाग में नहीं है। सम्भव है कि उक्त प्रस्तावना पृथक् से प्रकाशित की जाय। अच्छा तो यही होता कि दोनों में से किसी एक भाग में ग्रन्थ पाठ के साथ ही देदी जाती।

न्यायमंजरी ग्रन्थिभंग—

रचयिता—चक्रधर, संपा०— नगीनजी० शाह; प्र०—ला० द० भा० सं० विद्यामन्दिर अहमदाबाद, प्र० सं० १९७२, बड़ा आकार, सजिल्द, पृ०सं०३००, मूल्य ३६ रु०।

एल० डी० सीरीज न० ३५ के रूप में प्रकाशित यह ग्रन्थ सुप्रसिद्ध नैयायिक जयन्तभट्ट (९०० ई०) कृत न्यायमन्जरी की बौद्ध, न्याय एवं मीमांसा दर्शनों के पण्डित श्री चक्रधर (११वीं शती) द्वारा रचित टीका का स्तरीय, सुसम्पादित संस्करण है। प्रावेशिक कथन में विद्वान सम्पादक ने सम्पादन विधा. ग्रन्थकार टीकाकार, ग्रन्थ आदि के

सम्बन्ध में उपयोगी ज्ञातव्य प्रदान किया है। इस प्रकाशन का महत्त्व इस कारण भी है कि न्यायमंजरी की यह एकमात्र उपलब्ध किन्तु अधुना अप्रकाशित टीका है और मूलग्रन्थ की उलझनों को सुलझाने में अतीव उपयोगी है। कागज, मुद्रण, प्रकाशन उत्तम हैं। यह विद्यामन्दिर के मालवणियाजी प्रभृति अधिकारियों की उदाराशयता एवं विद्या प्रेम हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्य के रत्नों को बिना पक्षपात प्रकाशित कर रहे हैं।

अध्यात्म बिन्दु—

रच०—हर्षवर्द्धन; संपादक—मुनि मित्रानन्द-विजय एवं नगीन जे० शाह, प्र० ला० द० भा० सं० विद्यामन्दिर अहमदाबाद, प्र० सं० १९७२, बड़ा आकार, सजिल्द, पृ० सं० ६३+३४, मूल्य ६ रु०।

ला० द० सीरीज न० ३४ के रूप में प्रकाशित यह ग्रन्थ १५वीं शती ई० में हुए उपाध्याय हर्षवर्धन की रचना है, जो प्रथम बार प्रकाशित हो रही है। ग्रन्थ 'निश्चयव्यवहारप्ररूपणप्रवण, कर्तृ-कर्मस्वरूप प्रकाशन प्रवणा, आत्मस्वरूपभावनपरा तथा शुद्धस्वरूप प्रकाशिका' शीर्षक संस्कृत की चार द्वात्रिंशिकाओं में विभाजित है, जिनमें से प्रथम पर सुबोध स्वोपज्ञवृत्ति भी है। यथा नाम तथा गुण यह रचना जैन अध्यात्म विषयक एक सुन्दर कृति है और स्वभावतः उस पर अध्यात्मगुरु कुन्दकुन्दाचार्य एवं उनके टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि का स्पष्ट प्रभाव है। ग्रन्थ के विद्वान सम्पादक श्री शाह ने अपनी उपयोगी प्रस्तावना में भी इस तथ्य को लक्ष्य किया है और हर्षवर्द्धन के कई पद्यों का मूल समयसार की गाथाओं एवं उसकी अमृतचन्द्र कृत टीका के श्लोकों से शब्द साम्य एवं भाव स्तम्भ प्रदर्शित किया है। सम्पादन स्तरीय है। मुद्रण-प्रकाशन उत्तम है। स्वाध्याय प्रेमियों, विशेषकर अध्यात्मप्रेमियों के लिए रचना पठनीय एवम् मननीय है।

जैन लक्षणावली—

सम्पादक—बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका०—वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, प्र० सं० १९७२, बड़ा आकार, सजिल्द, पृ० सं० ३१२+१२६, मूल्य २५ रु०।

लगभग ४०० दिगम्बर एवं श्वेताम्बर ग्रन्थों पर से संकलित, मात्र 'अ' से 'औ' पर्यन्त, पारिभाषिक शब्दों का यह महत्त्वपूर्ण कोश उस महान जैन पारिभाषिक शब्दकोश का प्रथम अंश है जिसकी मूलतः परिकल्पना अब से ५० वर्ष पूर्व वीर सेवा मन्दिर एवं अनेकान्त के संस्थापक स्व० आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तारने की थी। दिगम्बर समाज में तो यह कार्य था भी केवल उन्हीं के मान का। सांकेतिक प्रेरणा पाईग-सद्द-महाण्णव से मिली, और उन्होंने अपने सहकारी विद्वानों के सहयोग से अपने वीरसेवा मन्दिर में ही इस दिशा में कार्यारम्भ कर दिया, और इसी सिलसिले में लगभग बीस वर्ष पूर्व पुरातन जैन-वाक्य-सूची जैसे उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ का प्रकाशन किया। लक्षणावली का कार्य उनके मनोनुकूल प्रगति न कर सका और साधिक ९० वर्ष की वय प्राप्त करने पर भी उनके जीवन में उनका यह स्वप्न साकार न हो सका। इस बीच कलकत्ता के श्री मोहनलाल जी बांठिया ने लेश्याकोश, क्रियाकोश जैसे पारिभाषिक शब्दकोश आधुनिकतम अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक विधा के अनुसार प्रकाशित करके इस दिशा में अमूल्य कार्य किया है और इस कार्य को बढ़ाने में अभी भी लगे हैं। बड़ी प्रसन्नता हुई यह देख कर कि वीर सेवा मन्दिर के वर्तमान अधिकारियों ने स्व० मुख्तार सा० के अधूरे पड़े कार्य को पूरा करने का उपक्रम किया है। सौभाग्य से उन्हें पं० बालचन्द्र जी का सहयोग मिल गया जो इस कार्य में पहले भी योग दे चुके हैं। उन्होंने जिस अध्यवसाय एवं सावधानीपूर्वक इस कोश का सम्पादन किया है,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वह सराहनीय है। प्रकाशकीय, सम्पादकीय वक्तव्यों के अतिरिक्त पं० परमानन्द जी के दो शब्द, डा० दयानन्द भार्गव का अंग्रेजी प्राक्कथन, स्वयं सम्पादक की ८७ पृष्ठ की विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना और अन्त में उपयुक्त ग्रन्थों सविवरण सूची एवं ग्रन्थेकान्द्रमान के मणिका ने कोश की उपयोगिता में पर्याप्त वृद्धि की है। परिभाषाओं में मूल पाठों के साथ हिन्दी भावार्थ भी दे दिये हैं। कागज मुद्रण, प्रकाशन उत्तम है। इस प्रकाशन के लिए वीर सेवा मंदिर के क्षधिकारीगण धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रन्थ संग्रहणीय है।

जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश (भाग १ व २)—

रचयिता—क्षु० जिनेन्द्रवर्णी, प्रका० भारतीय ज्ञान पीठ, भाग १ (अ-औ)—प्र० सं० १९७०, पृ० संख्या ५०३, मूल्य ५० रु०, भा० (क-न) —प्र० सं० १९७१, पृ० सं० ६३४, मू० ५५ रु०, वड़ा आकार, सजिल्द।

भा० ज्ञानपीठ की मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला के क्रमश: संस्कृत ग्रन्थांक ३८ और ४० के रूप में इस महाकोश के उक्त दो खण्डों का प्रकाशन हुआ है। प्रथमखण्ड के प्रारम्भ में प्रधान सम्पादक द्वय, डा० उपाध्ये एव डा० हीरालाल का अंग्रेजी तथा हिंदी संक्षिप्त संपादकीय वक्तव्य भी है। इस जैन विश्वकोश के निर्माता, संकलनकर्त्ता एवं सम्पादक बालब्रह्मचारी क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी हैं, जिनकी आयु भी अधिक नहीं है, क्षीणकाय एवं प्राय: अस्वस्थ रहते आये हैं, तथापि गत बीस वर्ष की एकान्त साधना, अथक् परिश्रम एवं अपूर्व लगन के फलस्वरूप इस महान कार्य का सम्पादन करने में समर्थ हुए—वह धन्य हैं। दिगम्बर आम्नाय में मान्य चारों ही अनुयोगों के प्रमुख-प्रमुख ग्रन्थों पर से प्राय: समस्त सैद्धान्तिक, पारिभाषिक एवं वैयक्तिक नाम और तथ्यों का अकारादिक्रम से संकलन करके संदर्भ संकेत सहित परिचय दिया है। जैन सांस्कृतिक कोशों की परम्परा में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। जिस कार्य को एक साधन सम्पन्न बड़ी संस्था भी दसियों वर्ष में नहीं करपाती उसे एक व्यक्ति ने अपनी लगन, समर्पण एवं आत्म विश्वास के बल पर कर लिया। ज्ञान पीठ के अधिकारी भी धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने इस महा ग्रन्थ को अपनी संस्था के अनुरूप उत्तम रीत्या प्रकाशित किया। ग्रन्थ संग्रहणीय है, प्रत्येक पुस्तकालय, शास्त्र भण्डार एवं मन्दिर में इसकी प्रतियाँ रहनी चाहियें।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ भक्ति गंगा—

संपा०—डा० प्रेमसागर जैन, प्रका०—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र० सं० १९६९, बड़ा आकार, सजिल्द, पृ० सं० ६६+२४, मू० ५ रु०।

ज्ञा० पी० मूर्त्ति देवी जै० ग्रन्थमाला के इस हिन्दी ग्रन्थांक १३ का सुललित 'अन्तरंग' मुनि विद्यानन्दजी ने लिखा है, १५ पृष्ठ की भूमिका में विद्वान सम्पादक ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पौराणिक चरित्र, ऐतिहासिकता तथा उन पर रचे गये साहित्य आदि का संक्षिप्त किन्तु गम्भीर विवेचन किया है। तदनन्तर विभिन्न जैन भक्त कवियों एवं सन्तों के लगभग १०० भक्ति परक पद भजनों का चयन किया है तथा प्रत्येक पक्ष का सरलार्थ भी साथ-साथ दे दिया है। हिन्दी जैन साहित्य के भक्ति पक्ष को उजागर करने वाले आधुनिक विद्वानों में डा० प्रेमसागर अग्रणी हैं, और उनका यह सुसम्पादित सुन्दर संकलन पठनीय एवं संग्रहणीय है। कागज, मुद्रण, साज सज्जा, आदि भी उत्तम हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जैन शिलालेख संग्रह (भाग ५)—

संपा०—डा० विद्याधर जोहरा पुरकर, प्रका० भारतीय ज्ञान पीठ, प्र० सं० १९७१, डिमाई आकार सजिल्द, पृ० सं० १४०, मू० ३ रु० ।

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थांक ५२ के रूप में प्रकाशित यह पुस्तक सन् १९२८ में स्व० प्रेमी जी द्वारा प्रारम्भ जैन शिला लेख संग्रह की शृंखला में पांचवा भाग है और इसमें सन् १९६० के पश्चात् प्रकाश में आये ३७५ अभिलेखों का परिचय है। विद्वान् संपादक ने अपनी २० पृष्ठ की प्रस्तावना में उक्त लेखों का विभिन्न उपयोगी दृष्टियों से विश्लेषणात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। लेख परिचय भी कालक्रम के अनुसार दिया है, किन्तु अधिकांश शिला लेखों के मूलपाठ नहीं दिये गये, हिन्दी में केवल उनका परिचय मात्र दे दिया गया है, जिससे यह वस्तुत: शिला लेख संग्रह न होकर कतिपय शिला लेखों की एक सूची (कैटेलाग) मात्र बनकर रह गई है। शोध कर्त्ता एवं अध्येता को मूल शिला लेखों को देखने की आवश्यकता फिर भी बनी रही। बहुधा एक विशिष्ट अध्येता को मूल पाठ में ऐसी नवीन चीज मिल जाती है जिस पर सम्पादक की दृष्टि न जा पाई हो। तथापि पुस्तक उपयोगी है, डा० जोहरा पुरकर का परिश्रम सराहनीय है, और प्रकाशन भा० ज्ञान पीठ के अनुरूप उत्तम हुआ, मूल्य भी वर्तमान काल की दृष्टि से अत्यल्प है।

नयायुग : नया दर्शन—

ले० मुनि नगराज, संपा०—मुनि महेन्द्रकुमार प्रथम, प्रका-मंत्री राजस्थान अणुव्रत समिति जयपुर प्र० सं० १९६९, डिमाई, सजिल्द, पृ० सं० १२५, मू० ३-५० रु० ।

ले० श्रमण सन्त हैं और प्रौढ़ विद्वान एवं गम्भीर चिन्तक हैं। उनके स्वयं के शब्दों में 'सामाजिक जीवन का प्रासाद न अति भोग के दल-दल पर खड़ा किया जा सकता हैं और न अति त्याग के उन्नतशिखर पर। उसके लिए समतल भूमि चाहिये।' अतएव, १६ विभिन्न प्रकरणों में उन्होंने वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में संसारी जीवन की विविध समस्याओं को समाधान ऐसी दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है जो व्यवहार्य है। अतीत में उलझे रहकर वर्तमान की उपेक्षा करना जितना हानिकर है, अतीत को सर्वथा विस्मृत करके वर्तमान में रम जाना भी शायद उससे कम अहितकार नहीं है। पुस्तक बोधप्रद, पठनीय एवं मननीय है।

पथ-प्रकाश--

रच०—मुनि मोहनलाल 'शार्दूल', प्रका० अणुव्रत बाल परिषद कलकत्ता, वि० सं० १९७१, डिमाई, सजिल्द, पृ० सं० ९७, मू० १-२५ रु० ।

पुस्तक में भक्त कवि शार्दूल जी द्वारा रचित ८९ हिन्दी राजस्थानी गीतिकाओं-भजन, स्तवनादि का संकलन है। रचनाएं सुन्दर, गेय एवं बोधप्रद हैं।

कालजयी—

रच०—मुनि विनयकुमार 'आलोक', संपा०-राजेन्द्र नागावत, प्रका० आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, प्र० सं० १९७१, डिमाई, सजिल्द, पृ० सं० १०५, मूल्य ४ रु० ।

युवक सन्तकवि की १०५ लघुकविताओं का यह संग्रह नयनाभिराम मुद्रण एवं साजसज्जा के साथ प्रकाशित हुआ है। इस उद्‌बोधक एवं नैतिकता-उन्नायक मणिमाला में कवि का अपने आराध्य के प्रति समर्पण, मानवीय मूल्यों का आकलन, देश में विविध स्तरों पर फैले भ्रष्टाचार पर चुभते व्यंग्य, जीवन के आधार श्रद्धा-समर्पण-सद्‌भाव, आदि अनेक विषयों को स्पर्श किया गया है। कविवर रामधारीसिंह दिनकर की सुविचारित भूमिका संग्रह को चार चाँद लगा दिये हैं। 'कालनयी' से सुकवि से नवीन हिन्दी कविता बहुत आशा रखती हैं।

वीतराग विज्ञान (भाग २)––

ले० ब्र० हरिलाल जैन, प्रका० दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़, १६७१, डिमाई, पृ० सं० १८४, मू० ५० पैसे।

श्री कुन्दकुन्द—महान् जैनशास्त्रमाला के इस पुष्प नं० १२० में स्व० पं० दौलतराम विरचित छहढाला की द्वितीय ढाल पर श्री कानजी स्वामी के प्रवचन संकलित हैं। उक्त छहढाला उत्तर भारत में पहले ही पर्याप्त लोकप्रिय था, सोनगढ़ संस्थान ने उसके प्रचार को व्यापक बनाने में अभूतपूर्व योग दिया है। प्रस्तुत प्रकाशन उसी की एक कड़ी है, जो मुख्यत: ब्र० हीरालालजी के परिश्रम का सुफल है।

असंयमीस वन्दू नये––

ले० कांतिलाल शाह, प्रका० कपिलभाई टी० कोटडिया हिंमतनगर (गुजरात) १६७१, पृ० सं० ४५

मराठी भाषा में प्रकाशित इस पुस्तिका में 'अव्रती वन्दना योग्य नहीं है। ऐसा श्री कानजी स्वामी को लक्ष्य करके लिखा गया है।

एसेन्स आफ़ जैनिज्म––

मूल लेखक—पूरनचन्द सामसूखा, अंग्रेजी अनुवादक—गणेश ललवानी; प्र० सं० १६६६, डिमाई, पृ० सं ३७, मू० ७५ पैसे।

इस छोटी-सी पुस्तिका में जैनधर्म का संक्षिप्त परिचय सुन्दर दिया है। मुद्रण-प्रकाशन उत्तम है।

सातटि जनतीर्थ—

ले० गणेश ललवानी, पु० जैनभवन कलकत्ता, बड़ा आकार, पृ० सं० ५५।

बंगला भाषा की इस पुस्तक में सात जैन तीर्थों–सम्मेदशिखर, देलवाड़ा, शत्रुंजय, गिरनार, श्रवण बेल्गोल, उदयगिरि-खण्डगिरि एवं पावापुरी का सचित्र परिचय दिया गया है।

अतिमूर्त्त

ले० गणेश ललवानी, प्र० जैनभवन कलकत्ता, बड़ा आकार, सजिल्द, पृ० सं० १२४, मू० ४ रु०।

बंगला भाषा की इस पुस्तक में सोलह जैन पौराणिक एवं ऐतिहासिक तपोधन महापुरुषों का जीवन परिचय दिया गया है, साथ में उपयुक्त रेखाचित्र भी दिये गये हैं। जैन भवन इस बंगला पुस्तक माला का उद्देश्य बंगला भाषी लोगों को जैनधर्म का परिचय कराना है।

भगवान महावीर की अहिंसा—

प्रकाशक—प्रेम रेडियो एण्ड इलेक्ट्रिक मार्ट दिल्ली, १६७२, डिमाई, पृ० सं० ६०; अमूल्य।

पुस्तक में लेखक का नाम कहीं नहीं दिया। अहिंसा तथा सम्बन्धित अनेक विषयों का सरल एवं व्यवहारिक विवेचन है।

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तत्वार्थसूत्र (भाषा पद्यानुवाद)--

लेखक—प्रकाशक—नन्दकिशोर जैन, लखनऊ, १९७२, पृ० सं० ३४, मू० ५० पैसे।

श्री नन्दकिशोर ने सुप्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम दो अध्यायों के सूत्रों का भाषा पद्य में रूपान्तर किया है। साथ ही प्रत्येक सूत्र की पद्यात्मक व्याख्या भी की है। पहले भी मास्टर मुख्त्यारसिंह (ब्र० मुक्त्यानन्द) ने तथा कई अन्य सज्जनों ने इस प्रकार के प्रयास किए हैं। प्रस्तुत लेखक का उत्साह एवं प्रयत्न सराहनीय है, अनुवाद वहुत कुछ मूलानुसारी है। भाषा सरल सुबोध है।

सराक बन्धुओं के बीच--

ले० बाबूलाल जैन 'जमादार', प्रकाशक—श्री अहिंसा निकेतन, बेलाचम्पा (बिहार), १९७१, पृ० स० ६४, पुष्प नं० ६।

लगभग गत एक वर्ष से पंडित जमादारजी बिहार में सराकों के बीच कार्य कर रहे हैं। इस पुस्तिका में उन्होंने उक्त सराकों का—उनके निवास, स्थानों, जनसंख्या, संस्थाओं, स्थिति एवं दशा आदि का तथा इस सम्बन्ध में किये गये अपने कार्यकलापों का परिचय दिया है।

श्री अहिच्छत्र-पार्श्वनाथ--

संग्राहक सम्पादक—जिनेन्द्र लेखक, प्रका०सुनील कुमार जैन रामपुर, प्र० सं० १९७२, बड़ा आकार, पृ० सं० ५८, मूल्य १-६० पैसे।

पुस्तक के प्रथम भाग उक्त तीर्थक्षेत्र के इतिहास सर्व गौरव सम्बन्धित सामग्री विभिन्न पुस्तकों आदि से संकलित की है तथा उत्तरार्ध में पार्श्वप्रभु की भक्ति से ओतप्रोत स्तवन, पद, भजन आदि संकलित किये हैं, जिनमें से कुछ स्वयं सम्पादक द्वारा रचित हैं। जिनेन्द्र सेवक अच्छे उत्साही, तीर्थभक्त एवं समाज सेवी सज्जन हैं। पुस्तक संग्रहणीय हैं।

मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम-शताब्दी स्मृति ग्रन्थ--

संपा०—अगरचन्द नाहटा एवं भँवरलाल नाहटा, प्रका०—म० श्री जिनचन्द्र सूरि अ० श० समारोह समिति दिल्ली, १९७२, बड़ा आकार, सजिल्द, सचित्र, पृ० सं० १८८+७२, मूल्य १० रु०।

बारहवीं शती ई० के एक परम प्रभावक श्वेताम्बराचार्य की पुण्यस्मृति में इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। उनके गुरु जिनदत्तसूरिजी भी महान् प्रभावक एवं क्रान्तिकारी युग पुरुष थे। इन आचार्यद्वय का कार्यक्षेत्र मुख्यतया हिन्दी और उसके आस-पास का क्षेत्र रहा है और वहीं मणिधारीजी का स्वर्गवास हुआ था। अतएव दिल्ली में उनका अष्टम शताब्दी समारोह मनाया गया और उसी उपलक्ष्य में जैनजगत के जाने-मानें इतिहासज्ञ विद्वान् एवं भारी साहित्यकार कार चचा-भतीजे नाहटाद्वय ने इस महत्वपूर्ण स्मृति-ग्रन्थ की योजना को कार्यान्वित किया। ग्रन्थ के प्रथमखण्ड में विद्वानों द्वारा लिखित ४३ उत्तम लेखों का चयन है जो ग्रन्थ नायक और उनकी परम्परा के इतिहास, उनके धर्मप्रभावक कार्य एवं साहित्यसाधना तथा उनकी सांस्कृतिक देनों का प्रभूत परिचय प्रदान करते हैं। दूसरे खंड में नाहटाद्वय द्वारा संकलित तथा महोपाध्याय विनयसागर द्वारा सम्पादित खरतरगच्छ के आचार्यों द्वारा रचित विपुल साहित्य की वर्गीकृत परिचयात्मक सूची है। जैनपरम्परा एवं साहित्य के अध्येताओं के लिए ग्रन्थ अतीव उपयोगी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विदिशा मार्ग-दर्शिका--

लेखक एवं प्रकाशक—राजमल जैन मड़वैया, विदिशा (म. प्र.); प्र० सं० १९६९; बड़ा आकार, सजिल्द, पृ० सं० ३४४, मूल्य १२ रु० ।

मड़वैयाजी बड़े उत्साही पुरातत्त्वान्वेषक हैं और विदिशा (भेलसा) तथा उसके आस-पास के क्षेत्र में उन्होंने अथक् खोज के फल स्वरूप अनेक प्राचीन जैन कलावशेष तथा पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तुएँ ढूँढ निकाली हैं, यथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अग्रज महाराज रामगुप्त 'द्वारा प्रतिष्ठापित तीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ । खेद है कि उन्हें शासन या समाज से यथोचित प्रोत्साहन नहीं मिला । प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने अपनी विविध खोजों का विवरण, अपने वंश का परिचय, विदिशा का इतिहास, उसके दर्शनीय या ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों आदि का परिचय दिया है । उनकी शैली अपनी है, उनकी अनेक कल्पनाओं से पाठक सहमत नहीं भी हो सकते । लेखन की अपेक्षा बोलने का अभ्यास अधिक है, इसी से बीच-बीच में अनगिनत संस्कृत, हिन्दी, सुभाषित, उक्तियाँ, पदभजन आदि भी बिखेर दिये हैं, जो प्रसंग में भले ही फिट न होते हैं, पढ़ने में रोचक एव बोधप्रद हैं ।

महावीर जयन्ती स्मारिका (१९७२)—

प्रधान संपादक—भँवरलाल पोल्याका, प्रकाशक—मन्त्री, राजस्थान जैनसभा जयपुर, बड़ा आकार, सचित्र, पृ० सं० २५०, मूल्य २ रु० ।

पण्डित पोल्याकाजी तथा उनके छः विद्वान् सहयोगी सम्पादकों के अध्यवसाय एवं जैनसभा के मन्त्री श्री रतनलाल छाबड़ा तथा सदस्यों के उत्साह के फलस्वरूप इस वर्ष की महावीर जयन्ती स्मारिका भी सर्वप्रकार उत्तम, सुन्दर एवं पठनीय सामग्री से पूरित है । स्मारिका के प्रथम खण्ड में भ० महावीर विषयक २७ रचनायें, दूसरे खंड में साहित्य, कला एवं पुरातत्त्व विषयक ३० लेख तथा तृतीय खंड में अंग्रेजी के ६ निबन्ध आदि हैं । सभी रचनाएँ पठनीय हैं । स्मारिका संग्रहणीय है । मुद्रण, प्रकाशन, साजसज्जा उत्तम है ।

ईस्ट एण्ड वेस्ट–

रोम की इस्मेओ नामक संस्था द्वारा प्रकाशित तथा प्रोफेसर जी. टुची द्वारा सम्पादित शोत्रपत्रिका की नई सीरीज़ के भाग २० का अंक ४ तथा भाग २१ का संयुक्तांक ३-४ भी पूर्ववत प्राच्यविद्या से सम्बन्धित उत्तम सामग्री से युक्त हैं, अधिकतर सामग्री भारतेतर अन्य एशियाई देशों के पुरातत्त्व आदि से सम्बन्धित है ।

जैन-जर्नल(महावीर जयन्ती स्पेशल नंबर)-

श्री गणेश ललवानी द्वारा सम्पादित तथा जैन भवन कलकत्ता द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी की यह एकमात्र जैन त्रैमासिक पत्रिका नियमित रूप से निकल रही है । कागज-मुद्रण-साजसज्जा में अपना स्पृहणीय स्तर बनाये हुए है और लेख सामग्री का स्तर भी उत्तरोत्तर निखर रहा है, जिसका मुख्य श्रेय पत्रिका के लगन शील सुयोग्य सम्पादक ललवानीजी को है । प्रस्तुत महावीर जयन्ती विशेषांक (भाग ६, नं० ४, अप्रेल १९७२) में सामान्य से अधिक, लगभग १०० पृष्ठ हैं, कई चित्र हैं और जैनाजैन प्रौढ़ विद्वानों के जैनधर्म एवं संस्कृति विषयक पाँच पठनीय लेख हैं ।

संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका--

अंक ७, जून १९७२, तथा अंक ८, दिस०१९७ ।

उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, के सांस्कृतिक कार्य एवं वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग द्वारा प्रकाशित तथा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उक्त विभाग के निदेशक, उपनिदेशक, राज्य संग्रहालय के निदेशक, संग्रहालयाध्यक्ष एवं पुरातत्त्व अधिकारी द्वारा संपादित उत्तर प्रदेश के म्यूज़ियम्स एवं अर्कोला जी की यह षण्मासिक बुलेटिन अपने विषय की एक उत्तम, सचित्र शोध पत्रिका है। अंक ७ के ७० पृष्ठों में विविध विषयक ९ अंग्रेजी लेख तथा अंक ८के ८४ पृष्ठों में एक हिन्दी, ७ अंग्रेजी लेख तथा ४ अंग्रेजी वार्ताएँ प्रकाशित हैं। सभी लेख पठनीय एवं उपयोगी हैं।

सागरिका—

सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० रामजी उपाध्याय द्वारा सुसम्पादित तथा उक्त विश्वविद्यालय की संस्कृत परिषद् द्वारा प्रकाशित संस्कृत भाषा की यह त्रैमासिकी उत्तम कोटि की पत्रिका है। वार्षिक मूल्य १० रु० है! मार्च १९७२ में प्रकाशित दशमवर्षका चतुर्थांक विश्व-संस्कृत-सम्मेलन विशेषांक है जिसमें अनेक विद्वानों द्वारा लिखित विविध विषयक १७ निबन्ध संकलित हैं। इनमें पं०पन्नालाल साहित्याचार्य लिखित'महाकवि हरिचंद्रस्य धर्मशर्माभ्युदयम् तथा डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री का 'अपभ्रंश भाषा' शीर्षक निबन्ध भी सम्मिलित हैं। एकादश वर्ष के प्रथमांक (जून १९७२) में १० निबन्धों का चयन है जिनमें डा० देवेन्द्रशास्त्री का 'लौकिक संस्कृतस्य प्राकृतत्वम्' भी है। इस वर्ष के द्वितीयांक (सित०७२) में १३ लेख संकलित हैं। सभी लेख उपयोगी एवं पठनीय हैं।

मागधम—

प्रोफेसर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सुसम्पादित एवं बाणभट्ट परिषद, एच० डी० जैन कालेज, आरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित, संस्कृत-प्राकृत विभाग के संस्कृत-शोध वाङ-मय की इस सुन्दर पत्रिका का प्रस्तुत पञ्चमोदय 'प्रमाणमीमांसा' जैसे महत्वपूर्ण विषय को समर्पित है। १०४ पृष्ठों के इस अंक में प्रकृतविषय पर विविध दृष्टियों से प्रकाश डालने वाले १० निबन्ध संकलित हैं, जिनमें डा० दरबारीलाल कोठिया का 'जैन दर्शने प्रमाणचिन्तनम्', श्री उदय चन्द्र जैन का 'बौद्ध दर्शने प्रमाणमीमांसा' तथा सर्वोपरि स्वयं विद्वान सम्पादक के विस्तृत (३८ पृष्ठों के) सम्पादकीय में प्रमाणमीमांसा का विशद विवेचन भी हैं। डा० नेमिचन्द्र जी ने विविध दर्शनों के तुलनात्मक परीक्षण से प्रमाणाभास एमं प्रमाणज्ञान के अन्तर सुन्दर स्पष्टीकरण किया है।

जैन जगत समन्वय विशेषांक
(रजत जयन्ती अंक)

भारत जैन महा मंडल बम्बई के मासिक मुखपत्र के सम्पादक प्रसिद्ध समाजसेवी श्री रिषभदास रांका हैं जिन्हें श्री चन्दनमल 'चांद' जैसे उत्साही एवं साहित्यिक रुचि के युवक का प्रबन्ध सम्पादक के रूप में सहयोग प्राप्त है। वृद्धावस्था में भी रांका जी में युवकोचित कार्य उत्साह एवं क्षमता है। उनका सर्वोपरि लक्ष्य विभिन्न जैन सम्प्रदायों में भावात्मक एकीकरण सम्पादन करके सद्भाव उत्पन्न करना है। महामण्डल का प्रधान उद्देश्य भी प्रारम्भ से यही रहा है—वह जैनों के सभी सम्प्रदाओं को जोड़नेवाली कड़ी होने का दावा करता है और एतदर्थ बराबर प्रयत्नवान रहता आया है। इसी उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए 'जैनजगत' की रजतजयन्ती के उपलक्ष्य से वृद्धकाय (लगभग ३०० पृष्ठों का) समन्वय विशेषांक प्रकाशित किया गया है, जिसमें साम्प्रदायिक समन्वय एवं जैनमात्र के एकत्व के पोषक ३७ लेख, १५ कविताएँ तथा ७ कहानी-एकांकी आदि का संकलक हुआ है। इस विषय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर इतनी सामग्री एक स्थान में शायद कहीं व कभी नहीं एकत्रित हुई। सभी लेख पठनीय एवं माननीय हैं। इस विशेषांक का मूल्य पांच रु० है। यों जैन-जगत मासिक भी इधर नियमित एवं उत्तम आकर्षक रूप में निकल रहा है, और उसका वार्षिक मूल्य मात्र छः रु० है।

श्रमणोपासक (महावीर जयन्ती विशेषांक)

श्री जुगराज जी सेठिया एवं देवकुमार जैन द्वारा सम्पादित, अ० भा० साधुमार्गी जैनसंघ का मासिक मुखपत्र 'श्रमणोपासक' नियमित निकलता है। प्रस्तुत विशेषांक (वर्ष ९ अंक १९, अप्रेल ७२) में सामान्य अंकों अपेक्षा विशेष एवं पठनीय सामग्री है। पत्रिका अच्छी निकल रही है।

जैन मिलन पत्रिका
(भ० महावीर जयन्ती विशेषांक)

भारतीय जैन मिलन की यह पत्रिका बहुत अनियमित है। गत २७ मार्च ७२ को नागपुर के डा० भागचन्द जैन के सम्पादकत्व पत्रिका का यह विशेषांक लखनऊ से प्रकाशित हुआ था, जिसका श्रेय उसके कार्यवाह सम्पादक एवं सह सम्पादकों को है। ६० पृष्ठ के विशेषांक में कई पठनीय लेखादि संकलित हैं।

सन्मतिवाणी
(दशलक्षणपर्व विशेषांक)

पत्रिका सुन्दर एवं नियमित निकल रही है। सम्पादन नैपुण्य पग-पग पर लक्षित होता है। सन्मतिवाणी प्रायः प्रत्येक अंक में सुरुचिपूर्ण सामग्री प्रदान करती है। प्रस्तुत विशेषांक (वर्ष २, अंक ३, सित० ७२) में भी अच्छी पठनीय सामग्री का चयन है, स्वभावतः अधिकांश लेख पर्यूषणपर्व से सम्बन्धित हैं।

जैनगजट (पर्यूषणपर्व विशेषांक)

गतवर्षों की भांति भा० दि० जैन महासभा के साप्ताहिक मुखपत्र का यह विशेषांक पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। सामग्री अधिक नहीं है, किन्तु ढंग से सजी है और अवसर के उपयुक्त है।

अहिंसावाणी-दुर्लभ मानव जीवन विशेषांक–

अखिल विश्व जैन मिशन की मासिक मुख पत्रिका के उत्साही एवं सुयोग्य सम्पादक प्रतिवर्ष पर्युषण पर्व के अवसर पर किसी न किसी विशिष्ट विषय पर एक भारीभरकम विशेषांक अपने पाठकों को देते रहे हैं। इस वर्ष 'दुर्लभ मानव जीवन विशेषांक' के रूप में वह प्रगट हुआ है। १३० पृ० के इस अंक में लगभग ६५ लेख, कविताएँ, उपयोगी उद्धरणों आदि का सुन्दर संकलन हुआ है, जो सब पठनीय हैं। सम्पादक वीरेन्द्रजी की सूझ एवं परिश्रम सराहनीय है।

वीर-वाणी–दीपावली विशेषांक––

स्व० पं० चैनसुखदास जी द्वारा रोपित यह पौधा उनके सुयोग्य शिष्यों के हाथों भली प्रकार फल फूल रहा है, यह देखकर प्रसन्नता होती है। 'वीरवाणी' नियमित निकल रही है और आकार-प्रकार एवं रूप को पूर्ववत बनाये हुए है। प्रस्तुत दीपावली विशेषांक (३ नव० ७२) में सामान्य से प्रायः दुगने पृष्ठ हैं, मुखपृष्ठ भी सुन्दर है और सामग्री का चयन भी उत्तम है।

——

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन सन्देश

जैन समाज का निर्भीक पत्र है

अतः आप भी

समाज को उन्नतिशील बनाने वाले प्रत्येक आन्दोलन में
तथा निस्पक्ष दृष्टिकोण उपस्थित करने और
प्रगतिशील बनाने में साप्ताहिक जैन
संदेश को सहयोग दीजिये

—साप्ताहिक जैन सन्देश की अविनव योजना—

जैन दर्शन, इतिहास, पुरातत्व सम्बन्धी साहित्य को प्रस्तुत करने वाला
जैन समाज का अपना कोई पत्र न होने की त्रुटि अनुभव की
जा रही थी, इसकी पूर्ति के लिए जैन-सन्देश के
शोध विशेषांकों का प्रकाशन किया
जा रहा है।

इसलिए

प्रत्येक नगर और गाँव की जैन-समाज को जैन-साहित्य के महत्त्व और
आंदोलनों से परिचित कराने के लिये आप स्वयं और अपने
परिचितों को ग्राहक बनाइये

वार्षिक मूल्य—६)८०

मिलने का पता—

व्यवस्थापक

'जैन-सन्देश' चौरासी, मथुरा (उ० प्र०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्री भा० दि० जैन संघ मथुरा का

उपयोगी साहित्य

१. कषायपाहुड़ (श्रीजयधवलजी) भाग २ १५)
,, ,, ३ १५)
,, ,, ४ १५)
,, ,, ५ १५)
,, ,, ६ १५)
,, ,, ७ १५)
,, ,, ८ १५)
,, ,, ९ १५)
,, ,, १० १५)
,, ,, ११ १५)
,, ,, १२ १६)
,, ,, १३ १६)
२. वरांगचरित्र ७)
३. ईश्वर मीमांसा (कर्मानन्दजी) ६) का ५) में
४. रामचरित (पद्मपुराण का कथा भाग) ४)
५. बृहत्कथाकोष भाग १ २॥)
६. ,, भाग २ २॥)
७. तत्त्वार्थसूत्र (पं० कैलाशचन्द्रजी) २॥)
८. तत्त्वार्थसूत्र - पं० लालबहादुरजी शास्त्री ।॥)
९. छहढाला पं० हीरालाल शास्त्री २)
१० द्रव्यसंग्रह ,, १॥)
११. सत्यार्थ दर्पण (पं० अजितकुमार जी) २)
१२. भगवान ऋषभदेव पं० कैलाशचन्दजी १॥)
१३. 'विराग काव्य' कविवर धन्यकुमारजी १)
१४. जैनधर्म—पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ५)
१५. विरोध परिहार—पं० राजेन्द्रकुमारजी १॥)
१६. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि— २।)
१७. शास्त्रार्थ पानीपत भाग १ ।॥)
१८. ,, ,, २ ।॥)
१९. धर्म का आदि प्रवर्तक-स्वामी कर्मानन्दजी ।॥)
२०. वैदिक ऋषिविवाद-स्वामी कर्मानन्दजी ।=)
२१. आर्य समाज के ५० प्रश्नों के उत्तर— =)
२२. संगीत सरोवर भाग १—मा० रामानन्दजी ।॥)
२३. चारुदत्त चरित्र (कीर्तन)—
पं० विनयकुमारजी 'पथिक' ।_)
२४. उपदेशी गायन संग्रह—पं० भैयालालजी ।-)
२५. आर्य समाज की डबल गप्पाष्टक—
पं० अजितकुमारजी शास्त्री -)॥
२६. लोकमान्य तिलक का जैनधर्म पर
व्याख्यान १२ पैसे
२७. श्री मद्दयानन्द परिचय—
स्वामी कर्मानन्दजी १२ पैसे
२८. आर्य भ्रमोन्मूलन—पं० अजितकुमारजी १२ पैसे
२९. वेदों का भयानक तर्जुमा (उर्दू) १२ पैसे
३०. स्वामी दयानन्द और वेद १२ पैसे
३१. श्री गोमटेश्वर बाहुबलि
(काका कालेलकर) १२ पैसे
३२. ऋषभदेव की उत्पत्ति असम्भव नहीं ।=)
३३. भारत का आदि सम्राट—
स्वा० कर्मानन्दजी १)
३४. रिलीजन एण्ड पीस— (इंग्लिश में)
पं० सुमेरचन्दजी दिवाकर ४)
३५. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ १५)

प्राप्ति स्थान—मैनेजर

श्री भा० दि० जैन संघ चौरासी, मथुरा

नेमीचन्द जैन, मैनेजर
मुद्रक और प्रकाशक—
मथुरा प्रिंटिंग प्रेस, मथुरा (यू० पी०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

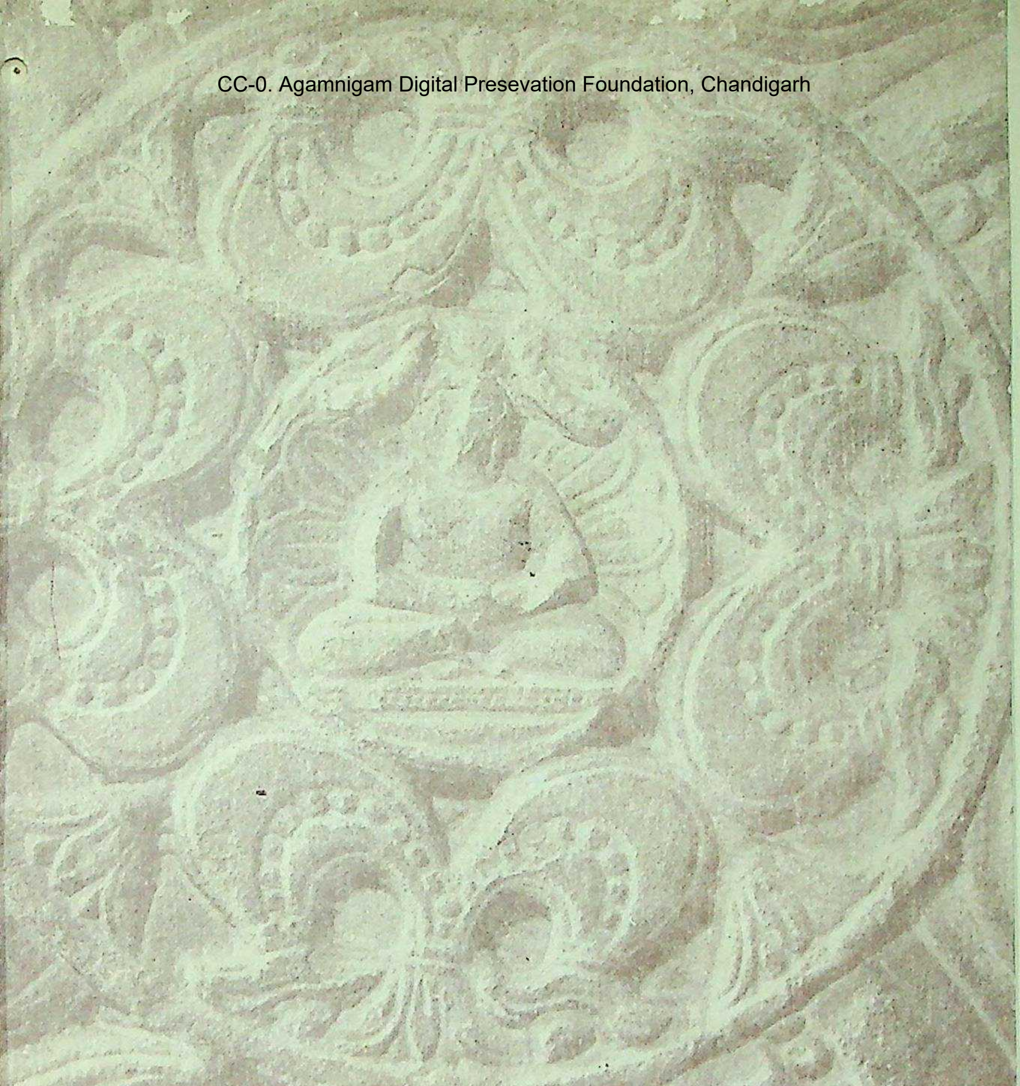

न-कला प्रदर्शनी

ाज्य संग्रहालय, लखनऊ

★

संक्षिप्त परिचय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आमुख

कला अपने मूल रूप में मत, संप्रदाय और धर्म से ऊपर रहती है ; पर जब वह किसी मत-विशेष का प्रतिपादन करने लगती है, तब मोटे अर्थ में वह उसी से सम्बद्ध मानी जाती है। अत: 'जैन-धर्म' से सम्बन्धित कला-कृतियां 'जैन-कला' के अन्तर्गत आती हैं।

'जिन' को मानने वाले को जैन तथा 'जिनों' के द्वारा कहे गये धर्म को 'जैन-धर्म' कहते हैं। 'जिन' वे पुरुष हैं जो ईश्वरीय अवतार नहीं होते पर अपनी तपस्या से काम, क्रोध, आदि विकारों को जीत कर तथा कर्म-मल को हटा कर अपनी आत्मा को विशुद्ध बना लेते हैं। ये पुरुष 'तीर्थङ्कर', 'केवली', 'अर्हत्', 'अरिहन्त', आदि नामों से जाने जाते हैं।

आदिनाथ या ऋषभदेव 'जैन-धर्म' के प्रथम तीर्थङ्कर हैं और वर्धमान महावीर अन्तिम। इनके बीच अन्य बाईस तीर्थङ्करों की मान्यता है। इनमें अन्तिम दो तीर्थङ्कर अर्थात् पार्श्वनाथ और महावीर ऐतिहासिक पुरुष माने जाते हैं। महावीर बुद्ध के समकालीन थे। उनका काल आज से लगभग २,५०० वर्ष पूर्व माना जाता है।

जैनमत

जैन एकेश्वरवाद या वेदवाक्य में विश्वास नहीं करते, किन्तु आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार प्रत्येक संसारी आत्मा कर्मों से बंधी होती है। तपस्या से इन कर्मों का नाश कर लेने पर 'मुक्ति' होती है। 'मुक्तों' को 'सिद्ध' कहते हैं। जैनों में सर्वोपरि पूजनीय स्थान पाँच है जिनमें प्रथम 'अर्हन्त' हैं, उनके बाद 'सिद्ध', 'आचार्य', 'उपाध्याय' और 'साधु' का स्थान है। जैनी गृहस्थ और स्त्रियां क्रमशः 'श्रावक' और 'श्राविकाएँ' कही जाती हैं।

'अहिंसा' जैन-धर्म का प्राण है। उसकी रक्षा के लिए सच बोलना (सत्य), चोरी न करना (अस्तेय), संग्रह न करना (अपरिग्रह) तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। इन नियमों को पाँच 'महाव्रत' भी कहते हैं, जिनका मुनियों के द्वारा पूर्णत: तथा गृहस्थों के द्वारा एकदेश से पालन किया जाता है। मुनियों के लिए निर्धारित जैनाचार बड़ा ही कठोर होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संघभेद—

प्रारम्भ में जैन-संघ एक था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मगध में बारह वर्षों तक भयंकर अकाल पड़ा, जिसके कारण जैन साधुओं की एक शाखा दक्षिण भारत में चली गयी। सामयिक कठिनाइयों के कारण उत्तर के कुछ साधुओं के आचार तथा मत में परिवर्तन हुए और उनमें से कुछ वस्त्रों का प्रयोग भी करने लगे। दक्षिण वालों ने इन चीजों को 'शिथिलाचार' कहा और इस प्रकार जैन-संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में बँट गया। बाद में दोनों सम्प्रदायों में भी अनेक उपभेद हुए। वस्त्रों के उपयोग को स्वीकार करने वाला श्वेताम्बर मत 'सवस्त्र' या 'सचेल' मुक्ति तथा स्त्रियों के भी 'केवल ज्ञान' की प्राप्ति में विश्वास करता है। दिगम्बर मत इसे कदापि नहीं मानता।

कलाकृतियाँ

जैन-कला पाषाण, धातु, ताड़पत्र, कागज आदि कई माध्यमों से मुखरित हुयी है। इसका प्रारम्भ सिन्धु-सभ्यता से होना वाद का विषय है। मौर्य-काल से इस कला की क्रमबद्ध कड़ियाँ मिलती हैं। निराकार को साकार बनाकर उपासक के हृदय को आनन्द और विश्वास से भर देना किसी धर्म के क्षेत्र में कला का सबसे बड़ा योगदान है। जैन-कलाकारों ने आयागपट्ट, चैत्य-स्तम्भ, चैत्य-वृक्ष, स्तूप, माङ्गलिक चिह्न आदि प्रतीकों से प्रारम्भ कर खड़े या बैठे तीर्थङ्करों के बिम्ब, सर्वतोभद्रिका या चौमुखी मूर्तियाँ, सरस्वती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, नेगमेष, बलभद्र, क्षेत्रपाल आदि देवी-देवताओं की सुन्दर मूर्तियाँ गढ़ीं। कला के इस विशाल क्षेत्र को पाषाण कला, धातुकला और वास्तुकला के रूप में समझने का प्रयास करें।

पाषाणकला—

बिहार के लोहानीपुर नामक स्थान से मिली तीर्थङ्कर प्रतिमा से पाषाणकला की जो धारा प्रारंभ हुयी, वह आज तक चली आ रही है। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शतियों में उत्तर प्रदेश का मथुरा नगर मूर्तिकला का बहुत बड़ा केन्द्र बन चुका था। इन दिनों यहाँ जैनों का एक विशाल स्तूप था, जिसमें अनेक छोटी बड़ी तीर्थङ्कर तथा देवी-देवताओं की मूर्तियाँ थीं। कुषाणकाल की ये प्रतिमायें जैन-कला की अमूल्य निधि हैं जिनमें से अधिकांश इस समय राज्य-संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित हैं। जैन-कला में तीर्थङ्कर प्रतिमा की निम्नांकित विशेषतायें ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) सभी मूर्तियाँ 'अचेल' या नग्न हैं, पर कुछ श्वेताम्बर मूर्तियाँ इसके लिए अपवाद है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२) तीर्थङ्कर या तो सीधे (खड्गासन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा में) खड़े हैं या पद्मासन में स्थित हैं । सम्पूर्ण जैन-कला में दो स्थितियों के अतिरिक्त तीर्थङ्कर की तीसरी स्थिति अपवाद से ही मिल सकती है ।

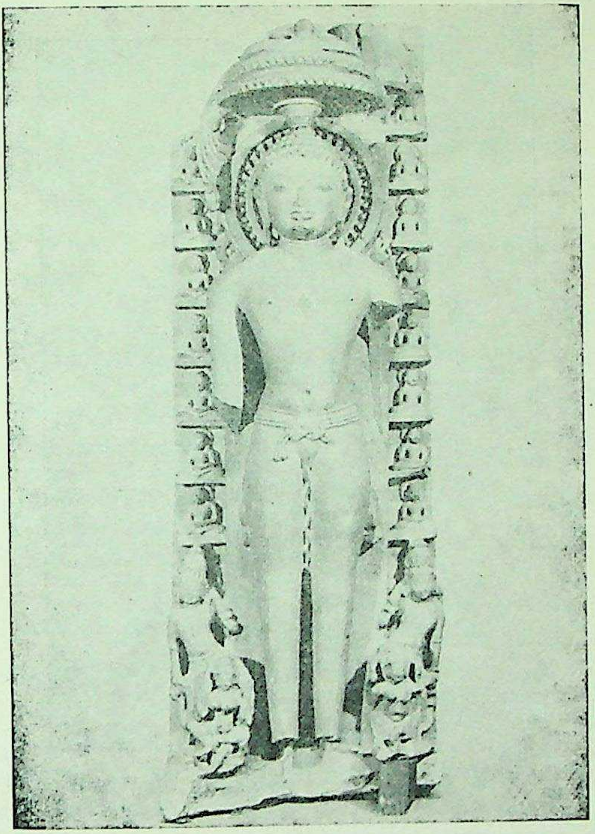

चौबीसी (जे. ९४९)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) उनकी छाती पर 'श्रीवत्स' चिन्ह है जो महापुरुष का एक लक्षण है।

(४) मस्तक के केशों को विभिन्न रूप से बनाया गया है पर कन्धों पर झूलनेवाले बाल साधारणतया केवल आदिनाथ के होते हैं।

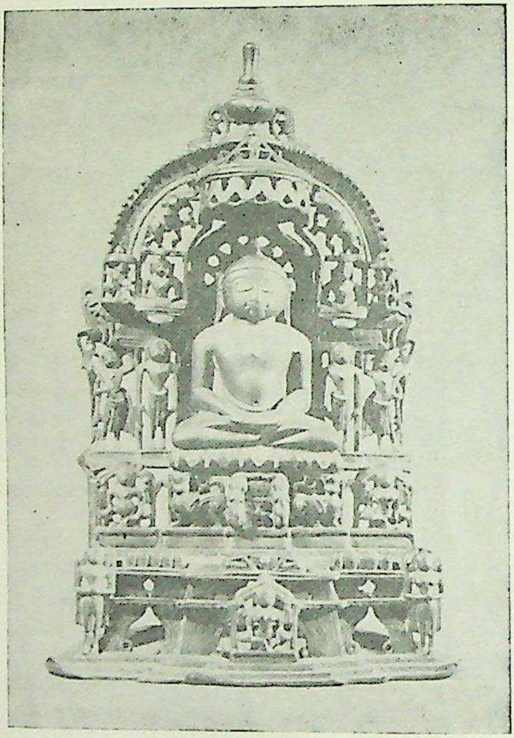

तीर्थङ्कर विमलनाथ की धातु-मूर्ति (६०.३४७)

(५) कुषाण काल में तीर्थङ्करों के विशेष चिह्न या 'लाञ्छन' नहीं दिखलाई पड़ते। शनैः शनैः मूर्तियों पर उनका अंकन होने लगा। आदिनाथ का बैल, पद्मप्रभु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का कमल, पार्श्वनाथ का सर्प, महावीर का सिंह, आदि प्रत्येक तीर्थङ्कर का अलग-अलग लाञ्छन होता है।

(६) तीर्थङ्कर-मूर्ति के साथ कुषाण-काल में शासनदेवता नहीं बनते थे। पर बाद की कला में वे दिखलाई पड़ते हैं।

(७) 'सर्वतोभद्रिका' या चौमुखी मूर्तियों में साधारणतया पार्श्वनाथ, महावीर, नेमिनाथ तथा ऋषभनाथ बने होते हैं।

(८) प्रारम्भिक मूर्तियों में चरण चौकी पर धर्मचक्र के पूजन का दृश्य तथा अभिलेख दिखलाई पड़ते हैं, जिनमें मूर्ति की प्रतिष्ठा-तिथि, दाता का नाम तथा गुरु-परम्परा, आदि का उल्लेख होता है।

(९) मध्यकाल में पहुँचते पहुँचते तीर्थङ्कर-मूर्ति में शासन देवताओं के अतिरिक्त कई अभिप्राय बने मिलते हैं, जैसे तीन छत्र, छत्रों के ऊपर ढोलक बजाता हुआ देव, हाथियों द्वारा अभिषेक, आदि।

(१०) जब तीर्थङ्कर की पृष्ठ-पट्टिका पर अन्य तेईस तीर्थङ्कर भी बने रहते हैं. तो सम्पूर्ण मूर्ति 'चतुर्विंशतिका' या चौबीसी कहलाती।

तीर्थङ्करों के अतिरिक्त सरस्वती, अम्बिका, नेगमेष, आदि-मिथुन या 'युगलिया आदि अनेक प्रतिमाएँ जैन-पाषाण कला की देन हैं। जैनियों के यहाँ इन सबका अपना महत्व है। जैन-प्रतिमाएँ उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी भारत में तो विपुलता से मिलती ही हैं, दक्षिण में भी उनके दर्शन होते है। इसकी तुलना में पूर्वी भारत में उनकी संख्या अधिक नहीं है।

धातुकला—

अब तक मिली हुई जैन धातुप्रतिमाओं में ई० पू० १०० के आस-पास बनी पार्श्वनाथ की मूर्ति प्राचीनतम मानी जाती है। बिहार राज्य के चौसा नामक स्थान से मिली कुछ मूर्तियाँ कुषाण-काल की मानी गई हैं, शेष गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल की हैं। पश्चिम तथा दक्षिण भारत में अकोटा, वसन्तगढ़, खम्भायत, बापटला, श्रावण बेलगोला, पुडुकोट्टई, आदि अनेक स्थानों पर जैन-धर्म की सहस्रों धातुमूर्तियाँ फैली हैं। ये प्रतिमाएँ ठोस और पोली दोनों प्रकार की हैं। मूर्तिकार कभी-कभी इन्हें बनाते समय कई भागों को अलग-अलग गढ़ कर बाद में जोड़ते थे। तीर्थङ्करों की आँखें, छाती पर श्रीवत्स, चौकी पर बना लाञ्छन, शासन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवताओं के नेत्र तथा अन्य महत्वपूर्ण अभिप्रायों पर श्वेताम्बर परम्परा में कभी कभी रत्न या चाँदी के चमकीले बिन्दु बैठाये जाते थे। धातु-प्रतिमाओं में अभिलेखों का स्थान बहुधा मूर्ति का पृष्ठभाग होता था। इन मूर्तियों के लिए अधिकतर पीतल और ताँबे का प्रयोग किया गया है। चाँदी, सोने तथा विभिन्न रत्नों की मूर्तियाँ भी ज्ञात हैं।

चित्रकला—

जैन चित्रकला का प्रारंभ ई० पू० की पहली शती से होता है। इस समय के कुछ चित्र उडीसा के उदयगिरि तथा खण्डगिरि की गुफाओं में मिले हैं। तामिलनाडू राज्य की सित्तन्नवासल गुफाओं की चित्रकारी उत्तर गुप्तकाल (ल० ६००–६२५ ई०) की है। एलोरा के कैलास मंदिर की दीवालों पर ८वीं से १३हवीं शती के बीच के कुछ चित्र हैं। इसी प्रकार के चित्र तेरापुर की गुफाओं में भी हैं।

उत्तर मध्यकाल में लघु चित्रकला विशेषरूप से पश्चिम-भारत में पनपी। ताडपत्र पर सन् ११०० में लिखी 'निशीथचूर्णी' पोथी के चित्र प्राचीनतम हैं। इसके बाद ताडपत्र तथा कागज की कितनी ही पोथियों में जैन-चित्र मिले हैं। महापुराण, कल्पसूत्र, कालकाचार्यकथा, महावीरचरित्र, उत्तराध्ययन, स्थानांगसूत्र, सालिभद्र चउपई, आदि अनेक चित्रित ग्रन्थ हमें ज्ञात है।

ग्रन्थों पर लगी लकड़ी की तख्तियाँ भी सुन्दर चित्रों से अलंकृत रहती थीं। कपड़े पर बने जैन-चित्रों का एक अच्छा उदाहरण सन् १४३३ की जैन पंचतीर्थी है। चित्रों के सन्दर्भ में विज्ञप्ति-पत्रों को नहीं भुलाया जा सकता, जो गृहस्थों द्वारा जैनाचार्यों को वर्षावास का निमंत्रण देने के लिए भेजे जाते थे। श्रीमद्भागवत जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी कहीं कहीं जैन-विषयों का चित्रण है।

मध्यकालीन जैन-चित्रों में लाल रंग का पार्श्वभूमि, मुख्यतया सफेद, काले, पीले, नीले, हरे और मंजीठे रंग का प्रयोग, वास्तुकला का सीमित चित्रण, मानवकृतियों की बाहर निकली हुई आँख, तीखी नाक, आदि विशेषताएँ दर्शनीय हैं। मुगल-कला के प्रभाव से इनमें धीरे धीरे सोने का प्रयोग भी बढ़ता गया।

वास्तुकला—

मौर्य सम्राट् अशोक और दशरथ के समय बनवाई गई बिहार राज्य की राजगिरी की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोन-भंडार, नागार्जुनी और बराबर पहाड़ियों की गुफाएँ जैन-वास्तुकला के प्राचीनतम नमूने हैं। उड़ीसा में स्थित खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाएँ शुंगकाल की देन हैं। मथुरा का देवनिर्मित बौद्धस्तूप कुषाण-काल में पूरे वैभव के साथ उसी स्थान पर खड़ा था, जिसे आज 'कङ्काली टीले' के नाम से पहिचानते हैं। यहाँ की अनेक शालभंजिकाएँ, वेदिका-स्तम्भ, सूचियाँ, स्तम्भ, द्वार-तोरण तथा अलंकृत धन्नियाँ अब लखनऊ संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं। गुप्तकालीन जैन-वास्तु के नमूने बहुत कम हैं, पर मध्यकाल के अनेक मंदिर हमें ज्ञात हैं। इनमें से कुछ यथा राजस्थान में ओसिया व आबू, उत्तर प्रदेश में देवगढ़ व महोबा, सौराष्ट्र में देलवाड़ा और शत्रुञ्जय, बिहार में पावापुरी तथा मध्य प्रदेश में खजुराहो, सोनागिरि आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं।

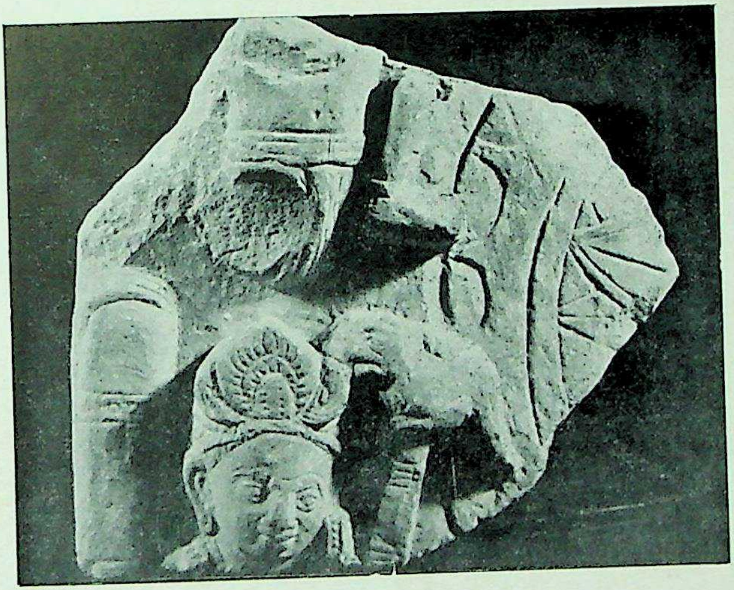

नेमिनाथ के बगल में बलदेव (एस् ७५८)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रदर्शनी की कलाकृतियाँ

जैन-कला के इस संक्षिप्त परिचय की पार्श्व-भूमि पर यहाँ प्रदर्शित कलाकृतियों को देखना अवश्य ही लाभकर होगा। प्रदर्शनी में प्रवेश करते ही दाहिनी ओर के प्रथम कक्ष में जैन उपासना के प्रतीक, देवताएँ, जैन कथाएँ इत्यादि मूर्ति विज्ञान सम्बन्धी सामग्री है। इसके बाद के दूसरे कक्ष में पाषाण कला के सुन्दर नमूने हैं, जो उत्तर प्रदेश तथा मध्य भारत से मिले हैं। तीसरे कक्ष में धातुमूर्तियाँ, चित्र तथा हस्तलिखित ग्रंथ प्रदर्शित हैं। निम्नाङ्कित तालिका प्रत्येक कलाकृति को समझने में सहायक होगी—

प्रवेश

१.	जे० १८६	जिन-मस्तक। लगभग प्रथम-द्वितीय शती ई०, मथुरा।

प्रथम कक्ष

२.	जे० २६८	वेदिका के छोर पर लगनेवाला स्तम्भ, जिसके अगल बगल क्रमशः सिंह-स्तम्भ की प्रदक्षिणा, नृत्य तथा प्रेम-लीला में रत स्त्री-पुरुष अंकित हैं। लगभग ई० पू० दूसरी शती, मथुरा।
३.	—	जैन-स्तूप, छायाचित्र।
४.	—	तीर्थङ्कर-मूर्ति से युक्त आयागपट्ट, छायाचित्र।
५.	जे० ६२३	शिला-फलक, ऊपर की ओर स्तूप के अगल बगल पार्श्वनाथ सहित चार तीर्थङ्कर बने हैं; नीचे वृक्ष के पास एक अर्ध-फालक मुनि और किसी देवी की प्रतिमा है। अभिलेख में कण्ह और अनघश्रेष्ठविज के नामों का उल्लेख है। इस शिला-पट्ट को ग्रहदत्त की पुत्री, धनहस्ति ने शक संवत् ९९ में स्थापित किया था। सन् १७७-७८ ई०, मथुरा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६.	एस० ७१८	नेगमेषिन्—जैन धर्मानुसार यह बच्चों के अभिरक्षक देवता हैं। लगभग दूसरी शती ई०, मथुरा।
७.	बी० २०७	कछोटेदार पत्थर पर उत्कीर्ण जैन दृश्य :—(१) स्तूप की पूजा, (२) तीर्थङ्कर-पूजन तथा (३) जैन-देवी के अगल बगल नेगमेषिन् सहित अन्य देवी-देवता। लगभग दूसरी शती ई०, मथुरा।
८.	एस० ७५८	तीर्थङ्कर नेमिनाथ के पार्श्वचर बलराम जिनके एक हाथ में सिंह-मुख-हल तथा केवल बायें कान में कुण्डल है। लगभग दूसरी शती ई०, मथुरा।
९.	—	तीर्थङ्कर नेमिनाथ के दूसरे पार्श्वचर वासुदेव कृष्ण, छायाचित्र, लगभग दूसरी शती ई०, मथुरा।
१०.	—	देवी सरस्वती, छायाचित्र।
११.	—	तीर्थङ्कर ऋषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी, छायाचित्र।
१२.	—	वैश्रवण अथवा कुबेर, छायाचित्र।
१३.	जे० ८५३	सिंहवाहिनी द्विभुजी अम्बिका, लगभग नवीं शती ई०, श्रावस्ती।
१४.	जी० ३१२	आम के पेड़ के नीचे सिंहवाहिनी चतुर्भुजी अम्बिका, जिनके हाथों में दाहिनी ओर से आम्रगुच्छ, एक आयुध, ढाल और शिशु हैं। लगभग ग्यारहवीं शती ई०, मध्यभारत।
१५.	जी० ३१६	पार्श्वनाथ की यक्षिणी पद्मावती। लगभग ग्यारहवीं शती ई०, मध्यभारत।
१६.	जे० ८७१	कल्पवृक्ष के नीचे 'युगलिया' अथवा आदिमिथुन। लगभग ग्यारहवीं शती ई०, श्रावस्ती।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१७.	—	क्षेत्रपाल, छायाचित्र ।
१८.	जे० ६२६	गर्भगत महावीर का देवनन्दा से त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरण करने वाले हरिनेगमेषिन् । उनके अगल बगल त्रिशला, देव-कन्यायें और बाल-तीर्थङ्कर देखे जा सकते हैं । संवत् १५=सन् ९३-९४ ई०, मथुरा ।
१९.	जे०३५४ व जे० ६०९	महाराज ऋषभनाथ के सभामण्डप में नीलाञ्जना का नृत्य, ऋषभ का गृह-त्याग और दीक्षा-ग्रहण । बाद के काल में इस पाषाण-खण्ड को वेदिका-स्तम्भ में परिवर्तित कर दिया गया था । लगभग ई०पू० दूसरी, शती मथुरा ।
२०.	—	मांगलिक चिन्ह तथा तीर्थङ्करों के लाञ्छन, रेखाचित्र ।
२१.	जे० २३० व जे० ६६५	छत्र से शोभित सर्वतोभद्रिका प्रतिमा—जिसमें पार्श्वनाथ के अतिरिक्त तीन अन्य तीर्थङ्कर बने हैं । लगभग द्वितीय शती ई०, मथुरा ।

द्वितीय कक्ष

२२.	जे० २४८	धर्म-चक्र, दिक्कुमारियों और मांगलिक चिन्हों से अलंकृत आयागपट्ट अभिलेख के अनुसार लवण की पत्नी ने इसका दान किया था । लगभग प्रथम शती ई०, मथुरा ।
२३.	जे० १५	ध्यानमुद्रा में तीर्थङ्कर, अलंकृत प्रभामण्डल तथा चरणचौकी पर धर्मचक्र-पूजन का दृश्य है । अभिलेख के अनुसार देविल के बुद्धि नामक व्यक्ति ने प्रतिमा की स्थापना की थी । लगभग प्रथम शती ई०, मथुरा ।
२४.	जे १२०	कल्प-वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में तीर्थङ्कर, बगल में चामरधारी यक्ष बने हैं । प्रथम शती ई०, मथुरा ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२५.	जे० ७६	कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थङ्कर-अलंकृत प्रभामण्डल । सम्भवतः मूर्ति के मस्तक पर छत्र था, जिसका दण्ड अभी भी शेष है । लगभग प्रथम-द्वितीय शती ई०, मथुरा ।
२६.	जे० ६८६	ध्यानस्थ तीर्थंकर, अभिलेख में हरिनन्द के बहन का उल्लेख है । संवत् १० = सन् ८८-८९ई०, अहिच्छत्रा ।
२७–३१.	जे०१९६, जै०१९०, जे०२२९, ६६·१७७ व जे० १७३	जिन-मस्तक जिनमें लुञ्चित और घुंघराले केश हैं। लगभग प्रथम-द्वितीय शती ई०, मथुरा ।
३२.	जे० २४	माला और पुस्तक लिए सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति, अभिलेख के अनुसार यह मूर्ति नर्तकों द्वारा रंगमण्डप में स्थापित की गई थी । सवत् ५४=सन् १३२-३३ ई०, मथुरा ।
३३.	जे० २०	जिन मुनि सुव्रतनाथ की अभिलिखित चरण-चौकी पर अर्ध-फालक, जैन मुनि तथा श्राविकाओं के बीच त्रिरत्न के ऊपर धर्मचक्र के दृश्य अंकित हैं। अभिलेख से विदित होता है, कि मथुरा का जैन-स्तूप देव-निर्मित बोद्वस्तूप के नाम से पहचाना जाता था । संवत् ४९=सन् १२७-२८ई०. मथुरा ।
३४.	जे० ७	मस्तक-विहीन जिन-प्रतिमा, पृष्ठ भाग में दो स्तम्भ और अशोक वृक्ष अंकित हैं । अभिलेख के अनुसार कनिष्क के राज्य-काल के नवें वर्ष में प्रतिमा स्थापित की गई थी । सन् ८७-८८ ई०, मथुरा ।
३५.	जे० ६०	ध्यानमुद्रा में तीर्थङ्कर नेमिनाथ । अलंकृत प्रभामण्डल, अगल बगल सर्पफण से युक्त द्विभुज बलदेव तथा वासुदेव कृष्ण हैं । बचे हुए अभिलेख में बालदत्त की कन्या का उल्लेख मिलता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लगभग तीसरी शती ई०, मथुरा।

३६. जे० १२१ कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थङ्कर नेमिनाथ, पीछे पूर्ण विकसित कमल का प्रभामण्डल और मालाधारी विद्याधर हैं। अगल बगल चतुर्भुज बलदेव और द्विभुज वासुदेव हैं।
लगभग चौथी-पाँचवी शती ई०, मथुरा।

३७. ६७·७ तीर्थङ्कर की मृण्मूर्ति का आवक्ष भाग।
लगभग पाँचवी शती ई०, श्रावस्ती।

३८. जे० ११८ ध्यानस्थ तीर्थङ्कर, मस्तक के पीछे पूर्ण कमल, पत्रावली, और हस्तिनख आदि से अलंकृत प्रभामण्डल है। पार्श्व-भूमि में अशोक-वृक्ष तथा मालाधारी विद्याधर दर्शनीय हैं। सिंहासन का पृष्ठ-भाग उछलते हुए सिंहों से अलंकृत है। गुप्त काल की एक उत्कृष्ट कलाकृति।
लगभग पाँचवी शती ई०, मथुरा।

३९. ५३·६९ ध्यानस्थ तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की मृण्मूर्ति।
लगभग छठी शती ई०, खीरी।

४०. ४९·१९९ कायोत्सर्ग मुद्रा में अजितनाथ, पैरों के अगल बगल शंख तथा चक्र दर्शनीय हैं; पद्मासन के नीचे उनके लाञ्छन हाथी बने हैं।
लगभग छठी शती ई०, वाराणसी।

४१. ६६·२८९ कायोत्सर्ग मुद्रा में ऋषभनाथ, सगर द्वारा स्थापित अभिलिखित प्रतिमा की यह एक अनुकृति मात्र है।
लगभग छठी शती ई०, मथुरा।

४२. जी० १४१ सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, जिसमें आदिनाथ, पार्श्वनाथ और सम्भवतः नेमि तथा महावीर हैं। पैरों के नीचे कोनों पर ग्रहों की मूर्तियां हैं।
लगभग सातवीं-आठवीं शती ई०, सराय आघाट, जिला एटा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४३.	जे० ९४९	चौबीसी — प्रमुख तीर्थङ्कर ऋषभनाथ सवस्त्र, पैरों के अगल बगल दाहिनी ओर देवी चक्रेश्वरी तथा बायीं तरफ सर्पफण से अलंकृत पद्मावती हैं ; सिर के ऊपर कल्पवृक्ष, त्रिछत्र और देव-दुन्दुभिवादक प्रदर्शित हैं । लगभग ९-१०वीं शती ई०, मध्यभारत ।
४४.	जे० ८८३	सिरदल का बायाँ भाग — बाईं छोर पर कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थङ्कर और दाहिनी ओर नरवाहिनी अष्टभुजी चक्रेश्वरी के बीच में ऊपर तीर्थङ्कर-पंक्ति तथा नीचे ग्रह बने हैं । लगभग ९-१०वीं शती ई०, सिरोनीखुर्द ।
४५.	जे० ८८० ए	ध्यानमुद्रा में तीर्थंकर पद्मप्रभु– मूर्ति के अलंकरणों में त्रिछत्र, देवदुन्दुभिवादक, गन्धर्व, मालाधारी विद्याधर और चामरधारी पार्श्वचर दर्शनीय हैं । अभिलेख के अनुसार भक्त विमलदेव ने प्रतिमा की स्थापना की थी । संवत् ११३५=सन् १०७८-७९ ई०, श्रावस्ती ।
४६.	जे० ९३५	सर्पावेष्टित गद्दे पर ध्यानमुद्रा में पार्श्वनाथ– चरणचौकी पर एक ओर शंख तथा चक्र धारण किये हुये चतुर्भुज नाग देवता और दूसरी तरफ द्विभुजी नागी, जिसके दाहिने हाथ में सनाल कमल है तथा बीच में दाता और उसकी पत्नी के द्वारा धर्मचक्र के पूजन का दृश्य है । लगभग ११-१२वीं शती ई०, खुखुन्दु , गोरखपुर ।
४७.	ओ० ३३३	कल्पवृक्ष के नीचे आदिमिथुन या युगलिया प्रतिमा– बाईं ओर बैठी हुई देवी के बायें हाथ में शिशु तथा दाहिने हाथ में बिजौरा है । वृक्ष पर लघु तीर्थङ्कर तथा चरण-चौकी पर देवगण बने हैं । लगभग ११-१२वीं, शती ई०, खुखुन्दु, गोरखपुर ।
४८.	ओ० ३३४	आम के पेड़ के नीचे सिंह पर आरूढ़ अम्बिका– बाईं गोद में स्तन स्पर्श करता हुआ बालक तथा दाहिनी ओर देवी द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पकड़े आम्र-गुच्छ को दूसरा बालक छू रहा है। वृक्ष के बीचो-बीच ध्यानी तीर्थङ्कर तथा अगल बगल विद्याधर मूर्तियाँ हैं। लगभग ११-१२वीं शती ई०, खुखुन्दु, गोरखपुर।

४९.	जे० ८७६	ध्यानमुद्रा में ऋषभनाथ, पार्श्व-भूमि में चार अन्य तीर्थङ्कर। चरण-चौकी पर उनका लाञ्छन बैल है। अभिलेख नागरी में है। संवत् १२३४=सन् ११७७-७८ ई०, श्रावस्ती।
५०.	जे० ८२०	चौबीसी– कायोत्सर्ग मुद्रा में आदिनाथ तथा पक्खों पर ध्यानस्थ तेईस तीर्थङ्कर। संगमर्मर की बनी प्रतिमा के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसकी स्थापना तांत्रिक सिद्धि के लिये की गई थी। लगभग १२वीं शती ई०, ग्वालियर।
५१.	जी० ३२३	पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मुद्रा में कसौटी पर बनी प्रतिमा— अभिलेख के अनुसार आषाढ़ सुदि नवमी, संवत् १२५३ को प्रतिमा की स्थापना की गयी थी। सन् ११९६–९७ ई०, उन्नाव।
५२.	जे० ८८५	मल्लिकुमारी की मस्तक-विहीन प्रतिमा। लगभग १३–१४वीं शती ई०, स्थान अज्ञात।

तृतीय कक्ष

५३.	ओ० ९७	चौबीसी– मुख्य तीर्थङ्कर आदिनाथ, सिंहासन के अगल बगल गोमुखी यक्ष और देवी चक्रेश्वरी, चरण-चौकी पर उनका लाञ्छन वृषभ एवं नीचे नवग्रह हैं।
५४.	६५·१४३-२	सचित्र 'कल्पसूत्र' का पृष्ठ। लगभग १५वीं शती ई०।
५५.	६५·१४३८	······तदैव······

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५६.	४६·७३	चतुर्भुजी अम्बिका । संवत् १४६२ = सन् १४०५-६ ई० ।
५७.	६५·२१	'विजयचन्द्र-चरित्र' का एक पृष्ठ । लगभग १५वीं शती ई० ।
५८.	६५·२२	अन्य हस्तलिखित ग्रंथ का सचित्र पृष्ठ । लगभग १५वीं शती ई० ।
५९.	६०·३५४/८	चतुर्भुजी अम्बिका । संवत् १५१९ = सन् १४६२-६३ ई० ।
६०.	५९·८६	ध्यानमुद्रा में तीर्थङ्कर कुन्थनाथ । संवत् १५२२ = सन् १४६५-६६ ई० ।
६१.	५९·११६	ध्यानमुद्रा में तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ । संवत् १५६७ = सन् १५१०-११ ई० ।
६२.	६०·३४७	पद्मासन में विमलनाथ । संवत् १५८३ = सन् १५२६-२७ ई० ।
६३.	३९·९०१/बी	देवी पद्मावती —बायीं ओर चरण-चौकी पर बना हुआ गरुड़ दर्शनीय है । संवत् १५८७ = सन् १५३०-३१ ई० ।
४६.	६०·३५४/१०	ध्यानमुद्रा में तीर्थङ्कर शान्तिनाथ । संवत् १६१७ = सन् १५६०-६१ ई० ।
६५.	—	'सालिभद्र चउपई' । संवत् १६४५ = सन् १५८८-८९ ई० ।
६६-६७.	५९·१८३/१-२	'कालकाचार्यकथा' के दो पृष्ठ । नीचे कालयसूरि और शकराज के बीच वार्तालाप । ऊपर कालयसूरि के कहने पर शकराज का गर्दभिल्ल पर आक्रमण ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

		लगभग १६वीं शती ई० ।
६८.	५७·१७३	श्रीमद्भागवत-पुराण में वर्णित ऋषभदेव की जीवन-कथा का चित्रण । मेवाड़ शैली, लगभग १७वीं शती ई० ।
६९.	५९·१६०/६	जैन-दर्शन से सम्बन्धित ग्रंथ । लगभग १८वीं शती ई० ।
७०.	—	'चौबीस दण्डक प्रकरण' ग्रंथ । लगभग १९वीं शती ई० ।
७१.	५५·२३२	सचित्र 'सुर-सुन्दरी' कथा । लगभग १८वीं शती ई० ।
७२.	५५·२२९/१८	इन्द्र की नेमिनाथ से प्रार्थना ।
७३.	५५·२२९/१५	नेमिनाथ की तपस्साधना ।
७४.	५५·२२९/२	स्त्रियों द्वारा नेमिनाथ को झूला झुलाना ।
७५.	५५·२२९/१३	इन्द्र द्वारा नवजात नेमि को ले जाया जाना तथा पाण्डुशिला पर स्नान ।
७६.	५५·२२९/११	नेमिनाथ का समवसरण । उपर्युक्त पाँचो चित्र (संख्या ७२—७६) जयपुर शैली के हैं । लगभग सन् १८२५ ई० ।
७७.	ओ० २४४	अर्हत की प्रतिमा ।
७८.	ओ० २०२	उपासक तथा उपासिका से शोभित दीपदान ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevatïon Foundation, Chandigarh

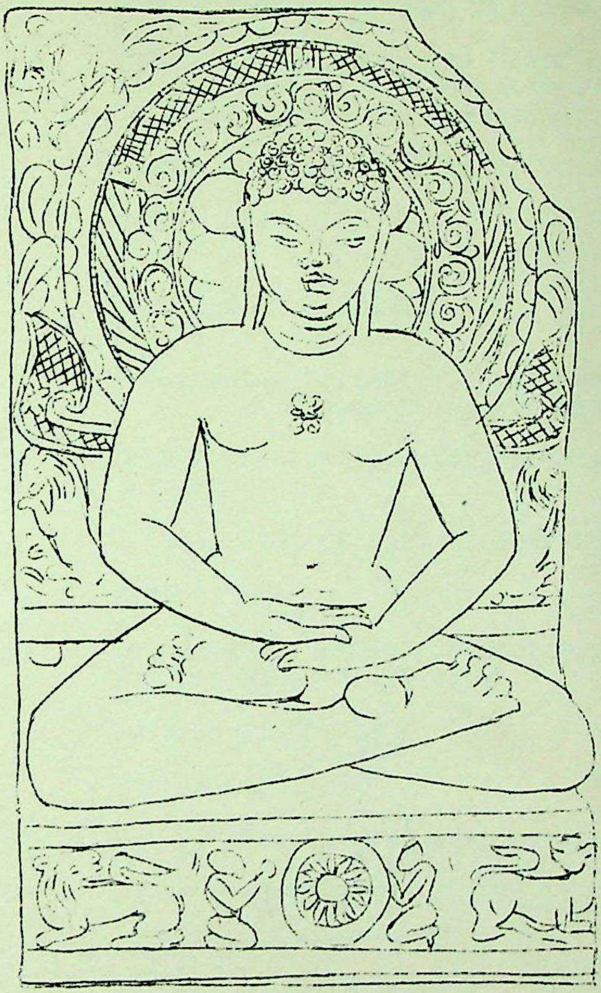

STATE MUSEUM
LUCKNOW
SEMINAR 1972

State Museum Library Lucknow
4274

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

State Museum Library Lucknow

4274

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

SEMINAR ON JAIN ART

JANUARY 28,1972

*

10-00 - 10-35	Welcome & introduction of the Chief Guest -Director,State Museum, Lucknow.
10-35 - 10-45	Inaugural Speech by the Chief Guest, Sri S.C.Goel, I.A.S.Secretary,Cultural Affairs & Scientific Research Department,U.P.
10-45	Thanks - Administrative Officer,State Museum,Lucknow.
10-45 - 11-00	Coffee Break

FORENOON SESSION

	President - Dr.Motichandra,Director,Prince of Wales Museum,Bombay.
11-00 - 11-30	Dr.U.P.Shah-Dy.Director,Oriental Research Institute, Baroda.
	-- BEGINNING OF JAIN ICONOGRAPHY
11-30 - 11-40	Discussions
11-40 - 12-10	Dr. Anand Krishna,Dy.Director,Bharat Kala Bhawan, Banaras Hindu University.
	-- JAIN PAINTINGS
12-10 - 12-20	Discussions.
12-20 - 1-00	Sri V.N.Srivastava,Asstt.Curator,State Museum,Lucknow
	-- SOME INTERESTING IMAGES IN THE STATE MUSEUM,LUCKNO
1-00 - 2-30	Lunch Break

AFTER NOON SESSION

	President - Dr.B.N.Puri,Prof.& Head of the Deptt.,of Ancient Indian History & Archaeology, Lucknow University.
2-30 - 3-00	Sri R.Sengupta,Chief Archaeological Engineer, Archaeological Survey of India,New Delhi.
	-- THE JAIN AYAGA PLATFORMS AT MATHURA:AN INTERPRETATI
3-00 - 3-10	Discussions.
3-10 - 3-35	Prof.K.D.Bajpai,Head of the Deptt.of Ancient Indian History, University of Sagar,(M.P.)
	-- JAIN CENTRES IN MADHYA PRADESH
3-35 - 3-45	Discussions

****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

TEMPORARY EXHIBITION ON JAIN ART

STATE MUSEUM, ARCHAEOLOGICAL SECTION, KAISERBAGH, LUCKNOW

Januarty 28, 1972

***

4-30 - 4-35	Welcome of the Chief Guest - Dr.B.Gopala Reddi, Govrnor of Uttar Pradesh. - Sri S.C.Goel, I.A.S., Secretary, Cultural Affairs & Scientific Research Department, U.P. Presentation of recent Publications of the Museum to the Governor.
4-35 - 4-40	Introduction to the Exhibition Director, State Museum, Lucknow.
4-40 - 4-55	Governor's address.
4-55 - 5-00	Thanks by Sri Shiromani Sharma, Director, Cultural Affairs & Scientific Research Department. U.P.
5-00 - 5-30	Tea and Governor's round in the Exhibition.
5-45 - 6-30	Screening of Films on Jain Art & Architecture.

*****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

SEMINAR ON JAIN ART

JANUARY 29,1972

**

FORENOON SESSION President - U.P.Shah

10-00 - 10-30	Sri J.P.Jain
	-SARSWAT ANDOLAN
10-30 - 10-40	Discussion
10-40 - 11.10	Sri D,B.Pande
	-PRATIMA SARVATO BHDRICA
11-10 - 11-20	Discussion
11-20 - 11-35	Coffee Break
11-35 - 12-05	Sri P.K.Agrawal
	-A NOTE OF THE IDENTIFICATION OF SYMBOL NANDYAVARTA
12-05 - 12-15	Discussion
12-15 - 12-30	Sri L.C.Jain
	PUBLICATION OF BOOK ON JAIN ART & ARCHITECTURE
12-30 - 1-00	Sri R.C.Sharma
	-JAIN ART IN RAIPASENIYA

AFTER NOON SESSION President - Dr.Moti Chandra

2-30 - 3-00	Sri M.K.Dhaky
	-GANGA JAIN SCULPTURES
3-00 - 3-10	Discussion
3-10 - 3-40	Prof. K.D.Bajpai
	-JAIN CENTRES IN MADHYA PRADESH
3-40 - 3 -50	Discussion
3-50 - 4 -10	Coffee Brea-k
4-10 - 4 -50	Dr.Moti Chandra
	-SOME ASPECTS OF JAIN ART
4-50 - 5 -00	Sri R.C.Sharma
	-NEW ACQUISITIONS IN THE MATHURA M...
5-00	Veledictory Address
	-Dr.Moti Chandra
	Thanks- Numismatic Officer,State Museum, Lucknow.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Brief Report Of The Seminar On Jain Art

January 28,1972.

At 10.30 Dr. N.P.Joshi, Director of the Museum welcomed the Chief Guest and briefly introduced the topic of todays delebrations.

Sri S.C.Goel, Secretary, Cultural Affairs U.P. inaugurated the function and welcomed Dr.Moti Chandra and other guest speakers like Sri. R.Sengupta, Dr.U.P.Shah, and Prof. K.D.Bajpai He briefly discussed the role of museums in promoting education. This museum is having teaching model cases based on ancient History and these are sent to different institutions. The permanent galleries also present a good deal of visual education. Certain temporary exhibitions and seminars have been organised by this museum in the last few years. This year in the series of Seminars 'Jain Art' will be discussed. Mathura had been a centre of Jain Art.

[illegible]. This seminar nicely coincides with the celebrations of the 2500th birth anniversary of Lord Mahavira the last Tirthankara of Jains. Sri V.[illegible] Mathur, Administrative Officer, thanked the Secretary and all present.

Dr. Moti Chandra Presided the session. Dr. Joshi introduced Dr.Shah and requested him to read his paper on 'Beginning of Jain Iconography.' He traced the beginning of Jain images through archaeological sources. The torso from a place named Lohanipur near Pataliputra is assignable to 3rd cent. B.C. It appears to be the earliest Jaina Image. The Ayagapattas from Mathura are the positive evidences of Jaina Iconography.

The plaque showing dance of Nilajana in this Museum one of the most important pieces in relief. Through slides illustrated his lecture being a Chronological resume of the developement of Jaina Iconography.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Dr. Motichandra the president of the session pointed out that in Jaina Art the study of symbols is very important. The symbols should be niecly inter protted. He briefly discussed on a few points raised by Dr.U.P.Shah and gave his own expert comments.

The lecture was followed by discussions. Sri R.C.Sharma asked about the dating of the Chauga bronzes and the about the porition of the Swastik symbols if they are clockwise or anti-clockwise. Dr.Shah gave his own views on these points. Dr.Joshi pointed out that Sri R.C.Sharma has discovered an umbrella with Jaina symbols. From this umbrella the un-interpretted symbol of the Avagapata vesembles. The symbol, suggested Dr.Moti chandra, is 'Bag' in reply to the enquiry of Dr.Joshi about the name of this symbol. Sri L.C.Jain asked about the two torsoes which were shown by Dr.Shah in the be ginning of his lecture.

On this occassion a sumptuous lunch was given to the participants and the guest speakers by the Lucknow Jain samaj and Jain Milan. After the lunch the duo-organisation formally welcomed the participants.

****

January 29,1972.

The State Museum Lucknow, organised a Seminar of Jain Art on January 29,1972, at the State Museum, Lucknow. In the forenoon session six papers on Jain Art viz. "Sarswal Andolan" By Dr. J.P.Jain, "Pratama Sarvato Bhadrika" by Sri D.B.Pande of Banaras Hindu University; " A note on the Indentification of symbol Nandyavarta" by P.K.Agarwal of B.H.U. "publication of book on Jain Art and Architecture" by Sri L.C.Jain of Bhartiya Gyanpith of Delhi, "art in Rayapaseniya" by Sri R.C.Sharma, Curator, Mathura Museum and "A plea- the Restoration of Asthetics to the consideration of Jain Art" by Sri Michael Meister from Harward University, U.S.A. were read and discussed. Most of the papers dealt with the iconographic aspects of Jain Art and brought to light several unexplored aspect of Jain Art.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

In the afternoon session Dr.Moti Chandra presided while four papers were read beside the voledictory address by Dr. Moti Chandra. Mr.M.A.Dhaky of American Academy of Art, Varanasi spoke on 'Ganga Jain sculptures', Prof.K.D.Bajpai of Sangar University on 'Jain Centres in Madhya Pradesh'. Dr.Shashi Kant on "Some Aspects of Jain Art" and Sri R.C. Sharma on 'The New acquisition in the Mathura Museum'.

The papers presented to-day dealt with the literary iconographic, aesthetic and religious aspects of Jain Art in different parts of the country namely Karnataka Madhya Pradesh and Mathura, the last being the most important Jain centre in U.P. The participants took keen interest in discussions specially on the points like absence of representation of JINAS on Coins, seals and terracottas, absence of early Jain images in Madhya Pradesh. The scholars showed great interest in the new finds of Mathura Museum namely the Mansadevi Yakshi, the umbrella with auspicious symbols and Bhairva Yaksha, announced by Sri R.C.Sharma,Curator, Archl. Museum, Mathura, with their illustrations. Dr. Moti Chandra congratulated the Curator for having acquired such prriceless and rare images for the Museum collections.

Dr. J.P.Jain in his lecture traced the origin of Jainism with Rashabha Deva whose period is uncertain. According to him Rshabha Deva may be identified with a male God of the Indus Valley seal. The images of Sarswati which is presently on display in the Jain Art Exhibition at Kaiserbagh is the earliest image of this Goddess who is very much associated with Jainism. The making of the images of Sarswati led to the Sarswat movement that is the compilation of religious scriptures in the book form in the period from 1st century B.C. to 1st Century A.D.

Dr. Moti Chandra in his valedictory address traced the place of Jain Art in the development of Indian Art, and stressed that besides the study of iconography the social religious and

--- 4.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

symbolic background leading to the making of such images should also be carefully studied through iconology. He said, Jain miniature paintings served as the objects of worship during 13th century to 16 century A.D. Among the Svetambra manuscripts the Jaunpur Kalpa Sutra is the most important manuscript from U.P. It is placed in 1465 A.D. He also referred to some Digambra Jain manuscripts like Mahapurana and Jasihar Chariya.

While closing his address he suggested that such seminars and discussions on Various subjects on Indian Art and iconography are highly beneficial to promotion of serious research over the literary religious asethetic and iconographic aspects of Indian Art and Culture. He hoped that at the occasion of 2500th birth Anniversary of Mahabir next year some concrete steps will be taken towards greater understanding of Jain Art and cultural heritage, by publishing the important texts and making them available to scholars, and libraries in India and other countries, where too they are very much in demand.

Before the assembly dispursed, Sri L.C.Jain, profusely thanked Dr. N.P.Joshi, Director, State Museum, Lucknow and the U.P. Government for having given the scholars an opportunity to express their views and interpretations on different aspects of Jain Art and discuss them with others in this literary congregation.

****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Beginnings of Jaina Iconography.

ORIGIN OF JINA-IMAGE

Dr U.P. Shah
Baroda

Prehistoric sites in India have not yielded as yet any definite clue to the existence of Jainism. A few seals from Mohen-Jo-Daro showing human figures standing in a posture closely analogous to the free standing meditative pose (Kayotsarga mudra) of the Tirthankara or the seal representing Siva as Yogi (in the meditative attitude) cannot in the present state of uncertainty of the meaning of the script and or symbols on Indus-Valley Seals, be definitely used to attest to the antiquity of Jaina art or ritual.

Jaina traditions ascribe the first twenty-two Tirthankaras of this age to a period covering millions of years before Christ, but modern criticism accepts only the last two - Pars'vantha and Varddhamana (Mahavira) - as real historical personages.

The mutilated red-stone statuette from Harappa (fig.1), though surprisingly analogous in style to the Mauryan Polished stone torso of a Jina (fig.2) - obtained from Lohanipur, near Patna, in Bihar has, in addition, two circular depressions on shoulder-fronts, unlike any other Jina-icon known hitherto and should better be regarded as representing an ancient Yaksha. Being a surface find, it is difficult to assign it with confidence to the age of Harappan culture.

The Origin of Image-worship in Jainism, may on the basis of available archaeological evidence be assigned to least the Mauryan age, c. 3rd century B.C., the age of Samprati, the gardson of Asoka, who is reputed in Jaina tradition to have been conve[illegible] to Jainism and who is said to have given much royal support to the monks of this faith. The evidence of Lohanipur statue does lends support to this tradition.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

So far as literary evidence is concerned, we have to weigh it with great caution since the available texts of the Jaina canonical works are said to have been following the text of the Second Council (vachana) at Valabhi which met in the latter half of the fifth century A.D. There are a few references to worship of images and relics and shrines of the Arhats Tirthankaras) by gods and men, and these may be at least be at old as the Mathura council (which met in the beginning of the fourth century A.D.) and even older.

Buth there are reasons to believe that attempts were made to worship an image (verily a potrait statue) of Mahavira, even during his life-time. This portrait statue of sandalwood was supposed to have been prepared, when Mahavira was standing meditation in his own palace, about a prior to the final renunciation. So this statue showed a crown, some ornaments and a lower garment on the person of Mahavira. Being a life-time portrait statue, it was known as Jivantasvami-pratima, that is, the 'image fashioned during the life-time of the Lord'. All later images of this iconographic type then came to be known as Jivantasvami-pratima.

The original portrait statue was worshipped by the queen of Uddayana, king of Roruka, (in Sindhu-Sauvira land) and later by Pradyota of Ujjain. The image used to be taken out on a Chariot (ratha-yatra) on a certain day at Vidisa, and during this ratha-yatra, Samprati, the grandson of Asoka, was converted to Jaina faith by Arya Suhasti. References to this image and the ratha-yatra are found in texts like the Vasudevahindi, the Avasyaka-churni etc. Two old bronzes of Jivantaswami, one inscribed and datable to c. 550 A.D.(fig.4), were discovered in the Akota hoard. The tradition of Jivantasvami images is therefore, fairly old and it is not impossible that one or more portraits of Mahavira were made

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

during his life-time. But regular worship of images and shrines of Tirthankaras may be somewhat later, though not later than the age of the Lohanipur torso.

Nowhere is it said that Mahavira visited a Jaina shrine or worshipped images of (earlier) Tirthankaras, like Parsvanatha or Rshabhanatha. Mahavira is always reported to have stayed in Yaksha-ayatanas, Yaksha-Chaityas like the Purnabhadra Chaitya and so on.

The Jina Image, as suggested elsewhere, by us, has for its model or prototype, the ancient Yaksha statues. It was also suggested that the mode of worship of the ancient Yaksha-Naga cult has largely influenced the worship in Jainism. The close similarity of the Jina (Tirthankara) and the Buddha image, and the fact that both Jainism and Buddhism are heteredox cults, which protested against the Vedic Brahmanical priestly cult, shows that Buddhism could easily have been influenced by the worship of the Yaksha and the Tirthankara images.

That the earliest known Buddha-image hails from Gandhara is a mere accident as suggested by Stella Kramrisch and does not preclude the possiblity of another earlier image being discovered in the land of Buddha's birth, as a product of the Native India School of Art. Jayaswal's discovery of a Mauryan torso of a standing Jina figure from Lohanipur proves, on the one hand, the authenticity of Jaina traditions on image worship, and, on the other hand, the existence in Magadha of an earlier model for Jina and Buddha images of early Christian centuries. The Jina image is a cult-object.

Lohanipur is a continuation of the Mauryan sites at Kumarahar and Bulandibag near Patna. Along with this highly

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

polished torso were revealed, from the foundations of a square temple (8 ft. 10 in x ft. 10 in), a large quantity of Mauryan bricks, a worn silver punch-marked coin and another but unpolished later torso of a Jina in the Kayotsarga pose.

Lives of the twenty-four Tirthankaras of this age (ara according to Jaina conception of time) are the subject matter of the Kalpa-sutra. The Samavayanga sutra, a Jaina canonical anga-text gives list of Tirthankarás of the Bharata and Airavata Ksetras of the Jambudvipa.

The Airvata-Kshetra list of the Samavayanga is not clear. The Pravachana-saroddhara, vv. 296-303, gives a slightly different list.

The Kalpa-sutra tradition of twenty-four Jinas is certainly older than c. 300 A.D. when Agastyasimha suri commented on it in his Das'a-Churni. The Chaturvimsati stava or the Logassa-sutta, attributed to Bhadrabahu, (170 years after Mahavira pags homage to twenty-four Jinas. The Nayadhammakahaho refers to the life of Mallinatha, the nineteenth Jina. The Sthanaga sutra refers to various Jinas and in sutra 108 notes their complexions.

The Avas'yaka-niryukti (vv. 949-51) refers to a Jaina pa of Munisuvrata at a place called Vis'ala. Even though the extant text of the Avas'yaka Niryukti does not seem to be earlier than the second century A.D., the stupa referred to must be placed in a period, about one or two centuries earlier, at least in the beginning of the Christian era.

Belief in the twenty-four Tirthankaras is also known to the Bhagavati-sutra (S'ataka 16, uddes'a 5). This sutra further refers to Munisuvrata, in other contexts while the Sthananga refers to Malli, Pars'va and Arishtanemi (in sutras 229,381).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

If may therefore be concluded that belief in twenty-four Tirthankaras existed in the beginnings of the Christian era and probably dates from a century or two earlier.

JAINA WORSHIP (AT MATHURA) IN KUSHANA PERIOD

Evidence of Jaina sculptures from the Kankali Tila (Mathura) and adjoining sites, show the prevalence of the stupa-worship in Jainism, from at least the second century B.C. The Jaina stupa, which once existed on the site of Kankali Tila, is regarded as a stupa of Suparasva-natha, the seventh Tirthankara, but as has been shown elsewhere, it was very probably the stupa of Pars'vanatha who flourished 250 years before Mahavira's Nirvana, in 527 B.C. according to Jaina traditions. The antiquities from the site, discovered so far, mainly dating from about second or first century B.C. (cf.fig.5 from Mathura), and upto about the end of the Kushana period, suggest that the stupa was enlarged, repaired and adorned with sculptures in the beginning of the Christian era.

These antiquities from Mathura attest to the existence, amongst the Jainas, of the worship of the Stupa (fig.6-7) the Caitya-tree, the Dharma-chakra, the Ayagapatas (Tablets of Homage) (figs.8,9), the Eight Auspicious Symbols (ashtamangala) like Svastika, the Wheel of Law, (Dharmacakra) the Nandyavarta (diagram), the Powder-box (Varddhamanaka), the S'rivatsa-mark, Pair of Fishes (Mina-Yugala), the full-blown lotus (Padma) the Mirror (Darpana) and so on (fig.10). Images of Tirthankaras, represented both in the standing (fig.11) and the sitting (fig.12) attitude, show no trace of drapery which clearly [illegible]ats that even though the Digambara and S'vetambara and S'vetambara schism had come into being in the first or second century A.D., the final crisis, in the differentiation of Tirthankara icons, had not yet taken place. Hence the evidence of art from Mathura refers to Jaina worship prevalent in both

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

the sects (in the first three centuries of the Christian era) and not the Digambara or S'vetambara sect alone.

From Mathura are found a special type of sculptures, called pratima sarvato bhadrika in inscriptions on pedestals, which show a Tirthankara image on each of its four sides, facing each different direction. These fourfold images, later on more popular as Chaumukha pratima, on account of their facing four directions, have remained popular in Jaina worship of both the sects. The sarvatobhadrika (pratima) images from Kaukali Tila, Mathura, date from the Kushana period (fig.13).

In image of Sarasvati, of this period, is also found from Mathura (fig.14). Incidents from lives of Tirthankaras and reliefs depicting scenes from Jaina mythology seems to have been existing in Jaina art at Mathura as is evident from fig.5 (assignable to c. second or early first century B.C.) depicting the Dance of Nilanjana (life of Rshabhanatha) or fig.15 illustrating Harinegameshin, (commander of Indra's infantry) associated with child-birth and transfer of embryo etc.

The full parikara obtained on Tirthankara images of early mediaeval age is not yet evolved, and only the halo, and the Chaitya-tree and flying Vidyadharas or garland bearers, heavenly musicians etc. are depicted in relief. There is no cognizance, nor the Yaksha pair associated with any Jina image from Mathura of the Kushana period, Instead of the attendant standing Chamardhara Yaksha on each side of the Jina, we obtain in the early stages of Tirthankara iconography. a donor and his wife or more generally a monk on each side, or a monk and a nun on the two sides of the Jina (fig.11). The Jina sits on a simhasana, with lions on two ends and the dharma-chakra in the centre flanked by sadhus, sadhvis, Sravakas and Sravikas.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

THE TWENTY-FOUR TIRTHANKARAS

During this period, the twenty-four Tirthnkaras had no recognizing symbols (cognizances-lanchhanas), seen on later sculptures. A Jina was identified only with the help of his name given in the votive inscription on the pedestal of his image. During the Kushana period at Mathura, we find evidence of the worship of only a few Tirthankaras, namely, Rshabhanatha, Neminatha, Pars'vanatha and Mahavira. The famous pedestal of an image of Arhat Nandyavarta (fig.17) dated in the years 299 (year 199 according to Dr.Lohouzen-de-Leeuw) according to an inscription on it. This inscription, recently correctly read by K.D. Bajpai refers to the worship of Munisuvrata (the twentieth Jina. Smith has published an image which, according to the inscription it, is of Sambhavanatha, the third Jina, installed in the year 9. Thus the list of 24 Tirthankaras was already evolved or was in the process of being enlarged, in the age of these sculptures, in the second or third century A.D.

It is interesting to note that, in the Jaina Kalpasutra, lives of only four Jinas - Rsabhanatha, Neminatha, Pars'vanatha and Mahavira are described in detail and probably formed the theme of the original text. A glance at the stylised summary treatment of the remaining Tirthankara lends doubt to their antiquity and would suggest later additions, especially because the view seems to obtain support from the absence of images of twenty (out of twenty-four) Tirthankaras at the Kankali Tila, Mathura, at least in the early Kushana period. It would seem that details regarding the other Tirthankaras were added towards the close of the Kushana period, before the Mathuri vachana (council at Mathura to reedit and preserve the Jaina canons took place under the chairmanship of Arya Skandila (c. 300-320 A.D.).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

he Kalpasutra mentions no cognizance for any of the Tirthankaras. The Avasyaka-Niryukti at one place refers to mark of the bull (which is the cognizance of Rshabhanatha) on the body of the first Tirthankara (Rshabhanatha), in a context which explains the names of the twenty-four Tirthankaras.

Cognizances are not mentioned in the ancient lists of atis'ayas or supernatural attributes of a Jina. Of the thirty--four atis'ayas, eight are regarded as the Maha-Pratiharyas (chief attendant attributes) which are figured on a sculpture or a painting of a Tirthankara. These eight are :- the As'oka tree, scattering of flowers by gods, heavenly music, fly-whisks, lion-seat, prabhamandala (halo), heavenly drum-beating, and divine umbrella. A critical study of all the texts giving lists of atis'ayas and a comparison with all available early sculptures suggest that the list of the eight Mahapratiharyas took its final shape probably towards the close of the Gupta period. Later sculptures or paintings of the Tirthankaras show further elaboration in the details of the parikara or paraphernelia attendant upon a Jina, which seems to date from the early mediaeval period.

The lanchhanas or cognizances of Jinas are not found in known Digambara or S'evtambara texts upto c. 7th-8th centuries A.D. But in art, their first appearance is known from a sculpture of Neminatha, on the Vaibharagiri, Rajgir, having an inscription in Gupta characters referring to Chandragupta (Chandragupta II according to R.P. Chanda). Here a conch is placed on each side of the Chakra-purusha in the centre of the pedestal (fig.17). The recently discovered images of installed by Maharajadhiraja Ramagupta, identified as elder brother of Chandragupta show no cognizance.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

- ·.

But the lists were not finalised in the Gupta age as is evident from a post-Gupta sculpture, from the same site, representing Pars'vanatha or Supars'vanatha (with snake-hoods overhead) showing an elephant on each side of the dharmachakra in the centre of the pedestal. Elephant is the cognizance of Ajitanatha but never of Parsva or Suparsva in either the Svetambara or the Digambara tradition. A comparison of the S'vetambara and Digambara lists of the lanchhanas shows a few differences and the origin of the lanchhanas may therefore by placed in the age of the final crisis between the two sects (Digambara and S'vetambara) which seems to have occurred at the time of the last Valabhi-vachana in 473 A.D.

Tirthankaras are said to be of different complexions, namely, white, golden, red, black or dark-blue. The complexions and the lanchhanas help us to identify the various Jinas in images or paintings. Rshabhanatha (Adinatha the first Tirthankara) is further identified on account of the hair-locks falling on his shoulders, for while the other Jinas plucked out all the hair, the first Jina, at the special request of Indra, allowed the back-hair (falling on shoulders) to remain, as they looked very beautiful.

Iconography of Rshabhanatha is especially noteworthy. He is called Adinatha and Rshabhanatha, having, as his cognizance, the bull or the nandi, and also the bull-faced Gomukha as his attendant Yaksha, resembling the conception of Nandikesavara or the vrshabha (bull vahana of S'iva. Like S'iva. Rshabhanatha is sometimes represented with a big jata overhead (cf.fig.16 from Kalugumalai).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Tirthankaras obtained Kevalajnana (Supreme knowledge) while meditating under a tree. Such a tree, called Caitya-vrksha, associated with the Kevalajnana of each Tirthankara, is mentioned in texts of both the Jaina sects, and in representations, each Tirthankara is shown sitting under a Chaitya-Vrksha. In iconography, one would, therefore, expect each Tirthankara sitting under the particular tree associated with his Kevalajnana. But it seems that when the ashta mahapratiharyas common to Tirthankaras were fixed it was the Asoka-tree which came to represented as a Chaitya-Vrksha over the head of all the Jinas.

Tree-worship, popular in ancient times, noticed in the Vedas, formed an important part of the religious beliefs and practices of the masses with whom Buddha or Mahavira was mainly concerned in his opposition to the Vedic, priestly class and its rituals. The spirits dwelling in the trees were Nagas, Yakshas, Gandharvas, etc. easily approachable without the help of complex sacrificial details. It is the Chaityas, with udyanas (parks) having Chaitya-trees in them, that Mahavira is generally reported to have stayed in during his wanderings. People used to sit in worship under such trees and in such moments Buddha and Mahavira obtained elightenment.

Since the Buddha was not represented in human form in early Buddhist worship, the Bodhi-tree attained greater importance in Buddhist art, while the Jainas were more or less satisfied with recording of the Chaitya-trees of different Jinas and giving them only a secondary importance in art. Possibility on account of its age-long existence as an object of worship (not only in India but even amongst other people - cf. for example the tradition of the Christmas-tree), the Chaitya-tree had to be introduced an a relief sculpture of a Jina, by showing its foliage over his head. The Jainas as well as the Buddhists gave a new meaning to Tree-worship. Trees were worshipped, not only because they were haunted by spirits, but also especially because the patriarchs of these faiths obtained enlightenment while meditating under their shades.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

That the Chaitya-tree was given importance due to the ancient and primitive tree-cult of the masses is best illustrated by a type of Tirthankara images from the South where the Jina is shown sitting under a big tree, his figures seated on a platform (pitha) with all other pratiharyas (attendant extra ordinary and supernatural objects) either eliminated or very much subdued (cf.fig.17 from Surat and fig.16 from Kalugumalai, Tinnevelley district).

With the evolution of the lanchhanas of the different Jinas, the Chaitya-trees have lost much of their value in identifying images of the Tirthankaras.

5. Pancha-Parameshthins and Salakapurusas :-

The Tirthankaras (makers or founders of the Tirtha) are the supreme objects of veneration, classified as the Devadhidevas by Acharya Hemachandra in his Abhidhana Chintamani. Enjoying the same high reverence wer are the Pancha-Parameshthins or the Five Supreme Ones, namely, the Arhat, The Siddha, The Acharya, The Upadhyaya and the Sadhu. The first two are liberated souls, but the Arhats are placed first as they are embodied souls, some of whom even found the Tirtha (ford) constituted of the sadhu, sadhvi, sravaka and sravika. The Siddhas are liberated souls who, in a disembodied state, reside on the Siddha-sila on top of the whole universe. Representations in paintings of Jinas after attainment of Nirvana show them as seated on the Siddha-sila of crescent shape. Worship of the Pancha-Parameshthins is very old and a later elaboration of the concept is obtained in the popular worship of the Siddha-chakra (fig.18) or the Nava-Devata (fig.19) in the Svetambara and Digambara rituals respectively. Earlier texts refer to Pancha-Parameshthins only and the inclusion of the four more Padas or dignitaries in the above mentioned diagrams probably

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

does not antedate c. 9th century A.D. The earliest rererence to Siddha-Chakra diagram, so far known, is from Hemachandra's own commentary (called Brihat-nyasa) on his grammar S' abdanus'asana

The four more Padas (dignitaries, worthes of respect) added by the S'vetambaras were Jnana (Samyakjnana Right knowledge), Darsana (Samyak-da or Right faith), Charitra (Samyak-Cha. or Right-Conduct) and Tapa (Penance). The Digambaras added, instead of the about four, the following - Chaitya (or Jina image) Chaityalaya (or Jaina shrine), Dharma-chakra, and S'ruta (speech of the Tirthankaras=seriptures).

The worship of the Five Supreme Ones is impersonal. It is the aggregate of qualities of these souls that is remembered and venerated rather than the embodied individuals. By adoring the Parameshthins, a worshipper suggests to his mind the qualities of the Arhat, Siddha, Archarya, Upadhyaya or Sadhu which the mind gradually begins to follow and ultimately achieves the stage attained by the Siddhas.

But the Devadhidevas are not creators of the Universe and the other Parameshthins are not their associates in the act of creation or dissolution. The Jaina Divinity - The Perfect Being - The siddha or the Arhat - as a type is an ideal to all the aspirants on the spiritual path. A pious Jaina does not worship his supreme deity in the hope of obtaining some worldly gains as gifts from the Devadhideva. For, the Arhat is freed from all attachments and consequent bondages of karma, whether good or bad. The worshipper simply meditates on the virtues of the Divinity so that they may manifest in the s worshipper himself. The perfect souls and souls striving towards perfection, are Great souls, the Salaka-purushas as the Jainas call them.

This in essence is Hero-worship or Apostle-worship and as such, great souls, both ascetic and non-ascetic, came to be especially revered. Lives of great souls became favourite themes

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

of Jaina Puranas. Lists of such Salakapurushas or Mahapurushas include the 24 Tirthankaras + 12 Chakravartins + 9 Baladevas + 9 Vasudevas = 54 Mahapurushas. Later texts speak of 63 Salakapurushas by adding nine Prati-Vasudevas (enemies of Vasudevas) amongst the Great souls.

Representations of these Great Men, except the 24 Tirthankaras, are very rare, only in a few cases representating incidents from the lines of Tirthankaras we find some of these figures separate images of Bharata are likely to be discovered and the present writer remembers to have seen one such at Satrunjaya more then two decades ago. However two painted Wooden Covers of some palm leaf Manuscript at Jesalmer are specially devoted to coloured representations of these Great Men in a serial order.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

The Sthananga sutra and other Jaina canons classify gods into four main groups, namely, the Bhavanavasis, the Vyantaras or the Vanamantaras, the Jyotishkas and the Vimanavasis. Thes are again subdivided into several groups with Indras, Lokapalas, Queens of these and so on.

The classification, acknowledged by both the sects is a very old tradition, but these are after all deities of a secondary nature in the Jaina Pantheon.

But there were other Great souls. The Jainas also evolved a conception of Kulakaras like the Manus of Hindu mythology. They were 14 according to the Digambaras and 7 according to the Svetambaras.

Every sect draws its pantheon from the ancient deities worshipped by the masses and adopts them in a manner suitable to the new environment and doctrines. Such for example was the worship of the deities whose shrines existed in the days of Mahavira and whose images and festivals are referred to in the Agama literature. They include Indra, Rudra, Skanda, Mukunda, Vasudeva, Vais'ramana (or Kubera), Yaksa, Buta, Naga, Pisacha, etc., Lokapalas and so on.

Indra, the great vedic deity was assigned the role of a principal attendant of the Jina or the Buddha by the Jainas and the Buddhists. The other deities of the list were mostly deities worshipped by the populace and did not belong to the pantheon of the Vedic prieses.

Skanda, the Commander of Goda in Hindu mythology is the commander of the infantry of the Jaina Indra. But the goat-faced Naigames'in who was associated with procreation of children as Naigamesa in ancient times, was also worshipped by the adhyayana of Antagadadasao.

Amongst other ancient Jaina deities may be mentioned S'rutadeva-
ta or Sarasvati, the Goddess of Learning and S'ri-Laksmi, the Goddess
of Wealth. An early image of the former is obtained from the Kankali
Tila, Mathura and shows her seated with upright legs and carrying
the lotus and the book. The peculiar posture of the goddess
is not without any significance. For, according to the Acharanga

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

sutra, Mahavira himself obtained knowledge while he was sitting with knees held up (   ) in the godohika-asana i.e., the posture adopted while milching a cow, Saraswati is, therefore, seated in an asana associated with the attainment of Kevalajnana by Mahavira.

Later images of Sarasvati show her as having two, four and eight even twenty-four arms. The four-armed variety is the most common and the goddess generally carries, the vina, and the book in two hands and showing the amritaghata and the lotus or the varada mudra in two others. The swan is generally shown as her vahama.

Yakshas and Yakshinis :

The Yaksha cult is very ancient in India. References to Ceiyas (Caityas) like the Gunasila-Ce; Purnabhadra-Ce; Bahuputrika-Ce; etc. in the Jaina Canonical texts are significant. The commentators rightly interpret them as shrines of yakshas (yaksha-ayatana and the word Jakkhayana is not unknown to the canons. Purnabhadra and Manibhadra are well known as ancient yakshas.

Mahavira stayed in such shrines. The aupapatika sutra gives a detailed description of the Purnabhadra Caitya, calling it ancient (porana) and visited by many persons. Mahavira, obviously selected for his stay in shrines of cults which were not following the vedic rituals and were, therefore, non-vedic or heterodox and possibly not Aryan in origin. The description of the Purnabhadra Caitya refers to a Prthivi-sila-patta, soft to touch and shining like mirror which I regard as referring to a highly polished N.B.P. terraccotta plaque. Excavations at Kosam and Vaishali have demostrated the existence of the N.B.P. in the sixth century B.C. Thus the description of the Purnabhadra shrine visited by Mahavira is authentic and preserves genuine old tradition.

We should, therefore, have no hesitation in regarding these Prthvi'slapatas (of the Purnabhadra-Caitya description) as precussors of the Jaina ayagapatas from Mathura dating from C.1st cent.B.C. - 1st Cent.A.D.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

It is but natural that when the pantheon began growing the Jainas thought of introducing a yaksha and a yakshi, as attendants of a Jina, as <u>S'asana-Devatas</u>, who protect the samgha of a particular Jina. The attendants obtained a place on the pedestal of a Jina Image itself.

Firstly a pair common to all the twenty four Tirthankaras was introduced. The yaksha carried a citron and a money-bag and resembled Kubera or Jambhala. The Yakshi, two-armed, carrying a mango bunch and a child, and having the lion as her vahana resembled Nana (of the Kushana coins), Durga and Hariti.

The earliest reference to Ambika is obtained in the unpublished commentary of Jinabhadragani Kshamasramana on his own Visesavashyaka-Bhashya (c.500-600 A.D.). Archaeological evidence also supports the above view as the earliest known sculptures of Ambika do not date prior to c.550 A.D. The earliest known images of this pair are available on a bronze sculpture of Rishabhanatha set up by Jinabhadra himself (fig.) and obtained in the Akota Hoard. An early image of the goddess Ambika, preserved in the Meguti Temple at Aihole', dates from c.634 A.D.

Worship of this pair, which resembled Jambhala and Hariti of the Buddhists, became very wide spread all over India and the Jaina caves of Ellora, contain some beautiful specimens (fig.) About the beginning of the 11th century, four-armed figures of Ambika came into vogue, the amralumbi being repeated in her two extra hands. At a later stage in the mediaeval period of Indian history, symbols like the noose, the goad, the varada, etc. replaced the extra mango-bunches.

The evolution of the iconography of Padmavati is equally interesting. Firstly, in all early representations of Parsvanatha, before c.900 A.D., she hardly figures as the Yakshi of this Jina. Alongwith Dharanendra, she is known as a snake-deity standing and adoring Parsvanatha or holding an umbrella over the head of Parsvanatha. Scenes of attack (upasarga) of Kamatha on Parsvanatha during his meditation,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

are very popular in the Daccan in the Jaina caves at Elura, Dharas'iva, etc., and even further south at Chitharal, Vallimalai, Kalugumalai and so on. In all these representations, Dharanendra is shown as protecting Pars'vanatha with his snake-hoods and adoring him, along with his queen Padmavati. It is indeed surprising to find that in the canonical lists of chief queens of Dharanendra Padmavati is not mentioned at all. It is, therefore, difficult to label this attendant queen of Dharanendra as Padmavati in the representations at Elura etc. (She may be Vairotya).

Vairotya, the thirteenth Jaina Mahavidya is an earlier Jaina snake-goddess. Lists of Mahavidyas are definitely earlier than the hitherto known lists of the 24 Jaina Yakshas and Yakshinis and Arya Nandila is associated with the worship of Vairotya in Jaina traditions. Very probably, the snake-goddess in the Elura relief was known as Vairotya.

Padmavati gradually replaced Vairotya in popular worship during the mediaeval period from c. 1000 A.D. Next to Ambika, she is the most popular yakshi and a snake-diety, but her role in the Jaina Tantra is greater than that of the Ambika. Works like the Bhairava-Padmavati-Kalpa, Adbhuta Padmavati-kalpa etc. were composed. Four-armed, she usually carries, the lotus, the goad, the noose, etc. and rides on the composite mythical Kukkuta-Sarpa.

Cakres'vari, the yakshini of the first Tirthankara Rshabhanatha is also a later goddess, for in all earlier representations, anteda-ting c.900 A.D., it is Ambika who figures as the yakshini of Rshabh-anatha and all other Tirthankaras (cf. the image installed by Jinabh-adra Vacanacarya in the Akota Hoard). Her iconography shows close similarity with that of the Hindu Vaishnavi. Cakres'vari Yakshi invariably carries the cakra and shows in the other arms, the conch, the conch, the varada mudra, the disc, etc. Like Vaishnavi she rides on the eagle.

It is often difficult to differentiate between images of Cakres'-vari the Yakshi and Cakres'vari or Apraticakra, the Vidyadevi, if the

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

goddess is not accompanied by the figure of a Jina (either on her crown or above the pedestal). Apraticakra, the Vidyadevi is earlier in origin than the yakshi of the same type,

Siddhayika replaced Ambika as the Yakshi of Mahavira, during the process in which separate yakshas and yakshinis were evolved for each Jina. Though she is regarded as one or the four principal yakshinis, she could not become so popular as the other three yakshinis, namely Cakresvari, Padmavati and Ambika.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

SOME INTERESTING JAINA SCULPTURES IN THE STATE MUSEUM, LUCKNOW

V.N.SRIVASTAVA

The execution of the job of arranging an exhibition on Jain art afforded me new opportunities of closely examining the ancient Jain Sculptures preserved in the Museum. The main Jain collection originally brought from Kankali Tila of Mathura is distinguished by a number of Sculptures which are not only of high artistic quality but are also important for iconography and early history of the Jain religion itself. An intimate knowledge of the Jain sub-groups, shakhas etc. can be gathered from the large number of inscribed images coming from the same site. To the Mathura artists perhaps also goes the credit of making the first Jain Silapattas or Ayagapattas. The conception of a Stupa, essentially a Buddist feature; of Yaksha-Yakshini attendants of Tirthankaras; of Negimeshin, the goat-headed god who at the behest of India transferred the embryo of Mahavira from Brahmani Devananda to Kshatriya lady Trisala and of Goddess Sarasvati are some of the features peculier to the Mathura School of Art alone. Similarly the Balarama-Neminath-Vasudeva Krishna complex created for the first time at Mathura is seldom seen outside of Mathura school. The four fold Jina figure (Pratima Sarvatobhadrika of inscriptions) with Adinath, Padsvaneth and two other Jinas, one on each side was also an advancement upon the original earlier conception of Samvasarana or a Chaumukha Sculpture. Representation of Manglik chinhas, the Dharma chakra, the chaitya Vriksha, the nidhis etc. also probably first appeared in Mathura art besides the innumerable free Tirthankara images and various other architectural pieces. It is interesting to observe that the Jainas in making the images of their Tirthankaras confined themselves to the attitude of Kayotsarga or standing posture or the meditation attitude first thought of at Mathura, the Jina torsos x Lohanipur or the bronze Parsvanath image in Prince of Wales Museum Bombay or perhaps a few Jina bronzes from the Chausa hoard in the Patna Museum being probably the only exceptions. Though there are stray references to the existance of Jain images, the study of the Kankali Tila collection also indicate that the worship of images of the Jinas as such probably began not in the birth place of Jainism in Eastern India but at Mathura, the traditional birth place of the cult of Bhakti or devoton to a Suprem Personal Being. The Jain belief in edification of individuals and idolization of their peroes which according to Jain tradition manifested itself in image worship, received great impetus at the hands of Mathura artisans who imbued with the element of Bhakti which arrived at perfect knowledge (Keval Jnana) adopted themselves to fervent devotion to the persons of Jinas and image making. Mathura thus played a most prominent part in propogating and popularising Jainism and it was also the Vaishnavism of Mathura which influenced Temple worship amongst the Jains. Incidently the schism between the Digambaras and the Svetambaras which is atleast as old as the 3rd cent. B.C., is never pronounced in the Mathura Images even of the late medieval period as is evident from the colossal seated images of Tirthankaras, shown like other Digambara Jinas but called in their epigraphs as belonging to the Svetambar sect. A persual of the dated images would reveal another interesting feature which is that though the inscriptions are said to refer to the saka Samvat of 78 A.D., certain dated inscription bearing images form a distinict group not only on the

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

basis of their style, technique or delineation but on the basis of paleography too. To eleborate the point further, the Jina image No.J.15 dated in the year 31 is strikingly different in treatment from the sculpture No. J.16 which bears a date not far removed from the former, which also betrays Kushano-Gupta characterstics while the latter is typically Kushana. It is, therefore, likely that some of the dates do not belong to the welknown Saka era but to some other earlier or late era prevalent at Mathura. Likewise some inscriptions already read and published need be interpretted differently these few features, though important, need not, however detain us for the present. My essay is limited to the discussion of only a couple of Jaina Sculptures which remained unnoticed or were imperfectly noticed so far. These include three reliefs and five Jina images and merit attention as from a stylistic point of view atleast two of the reliefs are quite early and assignable to about 2nd cent.B.C. and secondly they postraya religious scene which may have something to do with the life of Tirthankara and finally because the other figures either depict som god or goddess not yet identified including the central figure of the pontiff himself. My primary aim here isto simply introduce these sculptures to you for a correct and more authentic identification of the figures by you scholars and students.

The first object in order of priority and importance is the fragment of a running frieze consisting of two figures probably Jinas or mendicants seated in meditation with atleast two attendant chauri bearers behind them on their on their flank. Bust of another mendicant probably standing -¾ to right as apparnt from the attitude of this figure also appears on the extreme left. Part of another figure of which only traces remain along with a piece of cloth carried in the fashion of the ardhaphalakas also appear on the extreme right side of the frieze which is fragmented from both the sides. This piece was afterwards used as the corner pillar of a railing as evident from the two horizontally made rendering the damage to already broken frieze worst confounded Nevertheless this small piece of sculpture betrays a Jaina character of the representation. The two seated figures in meditation, the piece of ardhaphalaka-like cloth leave little room for doubt about their Jain feature. The central figures crudely modelled are seated on high platforms, their heads appear shaven except for a tuft or pig-tail like ? hair seemingly hanging to left. This feature, the Jain character of the frieze led me to believe that this scene may have something to do with Rshabhadeva, the first Jain patriarch who according to Jain traditions, was the only Jina with imperfectly cut or unkempt hair. As the position of the left hand of chauri bearers drawn behind the head of the Tirthanker is not clear, it also seems likely that it is not pig-tail or hair of the pontiff but a part of garland of the chhattra or a piece of cloth. I later on searched for other fragments in an attempt for a possible union of this piece with them and was extremely lucky to find that it fitted perfectly well with another frieze containing a dancing scene & other figures. This latter sculpture taken first as just a Dancing scene was later on identified with the Nativity scene of Mahavira by Dr.V.S.Agrawal. The suggestion that the scene represented the Dance of Nilanjana come from Dr.J.P.Jain of Lucknow and Dr.U.P.Shah without elaborating it,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

though their view point appears more plausidble. Atleast the two standing figures in aboration are in every likelihood the Lokantika gods as suggested by Dr. Shah who are said to have paid obessance to Rshabhaadeva on his renouncing the material pleasures. The small nude figure carrying a Kanandalu and a piece of cloth is, therefore, not of Mahavira as opined by the late Dr. Agrawala but Rshabha and appears to be carrying in the left hand not a piece of cloth but Mayur Pichhika of the Jain texts.

The mystry of leg in oblique suspended position which led Dr. Agrawala to suggest its identification with Hari Negmeshin on the basis of the sitting attitude seen another Mathura relief also stands solved. It is not the leg of Negamesi but of the ardhaphalaka whose bust is contained on the smaller fragment.

The discovery of the first relief of such significence discussed above which remained in oblivion for about hundred years atleast in this Museum, not only supplements the dance relief but also offers a more currect or atleast nearer identification of the whole frieze as referring to the story of Rishabhnath's renunciation as described in Adipurana M.I.XVII Parva. The two sculptures when joined together thus present not one but several scenes in the manner of other sunga relief which I would divide into five, though the whole panel appears running from right to left and not from left to right.(1) on the right extremity, represented only by a solitary figure now, was probably the original dance of Nilan Jana before King Rshabha (2) the dance scene now extant represents the dancer substituted by Indra after Nilanajanas disapperance,(3) The renumciation of Rshabha and Lokantika gods in attendence; (4) and (5) the various stages of the process of Kevala Juana by him. The existance of Ardhaphalakas indicate that they were quite prominent at Mathura.

The other relief nubered B 207 is carved on a typanum.
Though classified with the host of Buddhist images from Jam-
alpur, Bhutesvara sites etc. of Mathura the sculpture undrerd-
iscussion is essentialy Jain as evident from the small medi-
tating a Thirthankar with a conspicuous srivatsa mark on the
chest, stupa and the figure of Harinegamism in the group of
other figures. The exact find spot is unknown but the scul-
pture never the less portrays an early phase of Mathura art.

She tympanum measuring 2'-2½x1',2' does not seem to have
been employ d as an architecturel member and might have ohly
been a piece of decoration with the design of torana arch.
The composition is divided into three archred bands each con-
taining a now of figures, the entremities being made upby
open mouthed Makard motif and Vidyadhras carved on the upper
square portion on the relief.

The band on the top dipicts the worship of stupa by a
group of twelve male and femalo figure of which two are sea-
ted. These figures are most probably those of worshippers
carrying garlands as found in everal contemporary sculptures
of this school of interest is the stupa which is an almost
exact prototype of the three other similar representations
found on jain reliefs of Mathura and probably represents the
type of structures erected by the Jain community at Mathura.
The representation though similar in conotation differs with
the Buddhist type in two ways. (1) The Jain stupa has three
railings at different levels of the height of the tope and
there was also a fourth railing on the truncated flat top as
enclosing the"divine abode", in the case of early Buddhist
stupa there are only three railings in all. (2) The outline
of the Jain stupa indicates an elongated shape unlike the ear-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ly Buddhist type which is hemispherical.

The most important feature of the middle row is the Sri-vastu symbol on the chest of the small Jina figure which is similar to the Jina representation of the ayagapattaa consi-dered to be the earliest Jain tradition of Mathura though the letter do not show this emblem. Among the group of standing figures, the two on the proper right portion seem to carry staff like weapons the object held by the figure at the ext-reme right looks like a branch of tree with foliege while that of the other a long strick or mace, the latter standing a fevourable comparison with another figure in Mathura Museum identified severelly as Krishna, Balrama or Yaksha. Inciden-tly these miniature figures also wear crowns. Could these figures by there fore, identified as those of Balarama with a palmleaf and Vasudeva with goda?

Among the group of figures in the lowest band atleast three, the one in the centre and those on its flanks are def-initely of superior status because of their hands half-uprai-sed in the Abhaya. Bisides the person on the right has a goat head and can be identified beyond doubt as Negimish of the Jain pantheon which is not only depicted on a Ist Century A.D. relief from Mathura but whose independent images are also found in good numbers. The presence of this god near the cen-tral figure of a lady may suggest that the scene had something to do with the Naturty scene or else she may be the mother or Tirthankar Mahavira on the analogy of the famous Ayagapatta of Aryavali. The other figure can not possibly be identified. The main attendant group clad in Sythian fashion indicate the popularity of the Jain Religion amongst them as had been the case with several Brahmanical and Buddhist sculptures from Mathura. It is now for the scholars on Jain Art and iconogr-aphy to offer the correct identity not only of these figures but also of typann as a whole.

The few Jain images included in this paper are also important specially because they evince clear marks of their identification. The sculptures under discussion range in date from the Ist Century A.D. to about 4th century A.D. exhibiting a phase when recognising symbols of individual Thirthankars were not evolved and the pedastal showed only devotional scenes The only Jinas of the pre-Gupta period who could be identified, besides the inscriptions naming them, are Adinath because of long hair falling on the shoulders or Parsva or Suparsva bec-ause of the varying number of serpent hoods. The association and depiction of four handed Balarama and Krishna with Nemi-nath as found in the Harivansa, later enabled some scholars to identify certain early jain figures of this Pantiff or even the figure of Balrama as such. But the number of such images definitely identified as those of Neminath is very small. Strangely enogh all the images under discussion may in all likelihood be idetified as those of Neminath, and the discovery of such a good number of his statuettes is indicative of a very close association of the Jina with the Mathura school, whose sphere of work was hundreds of miles away. Mathura being already the birth place of Vaisnavism, it is very like-ly that the Mathura artists carved out so many images of Nem-inath because of the association of the main heroes of Bhagv-atism Balaram and Krishna with him. These sculptures thus rank amongst the earliest of known images of the Tirthankers.

The earliest among these, No.J 47 as you shall see on the screen, is a Jina figure seated in the usual dhyana attitude. Flanking him on either side are what may appear at a superfi-cial glance two mutilated attendans figures which deserve att-ention because they may themselves be counted amongst the ear-liest representation of four handed Balarama and Krishna, besides helping us in determining the identity of the main image. The figure on the Jina's right is too fragmentary but

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

a closer observation reveals the existance of a club, the very clearly and the presence of another stretch above the shoulder of the Jina which may be the part of the plough. The right hand of this figure is placed on the chest in a manner seen on the eightarmed Vishnu images of Mathura. This is, therefore a fourarmed figure and when seen in relation to the other figure on the right wearing a short vanamala and holding a long necked pot in the left. The right hand held in abhaya and the top of Gada near it all in the fashion of the recognised early Vishnu Images of Mathura, these can definitely be identified as those of Balarama and Vasudeva Krishna offering an unmistakeable proff of the identity of the central Jina imageas that of Neminath. Another image which could also be identified definitely as that of Neminath is sculpture J.121 exhibiting late Krishana or early Gupta characterstics. This standing Jina figure is also flanked by four handed Balarama with principal right hand held up against the naga canopy and the corresponding left holding a cup, the other rwo not very clearly indicated, holding respectively a club(musale) and a plough. It is interesting to note the treatment of the head-hear which is very much like the turbaned Balarama of Sunga period, and the use of Kundala in one ear only, another main feature of Balarama. The other figure with face damaged holds a conch in the left hand placed near the waist. Treated in an imperfect manner this figure on close examination also appears to have four hands traces of which and the goda. Thus we have here the second member of the Balarama and Krishna Complex namely Vasudeva Krishna. The Jina image therefore is that of Neminath. Yet another noteworthy sculptures is the miniature figure of a nude figure near the left f ot of the Jina and the two dhyani figures flanking the chakra on the pedestal. Possibly some scene of Nemanath's life's is dipicted here which need further investigation.

Sculptures No. J.117 and J.60 showing the transitional phase of art on the other hand contain attendant figures which have only two hands, that on the right having a snake canopy . Could this figure be that of two handed Balrama, for though the association of Naga with Jinas is not unknown, no sculpture has perhaps come to light which shows a Naga as attending on Jina in this fashion, As two handed immages of Balarama and also that of Vishnu are known it is likely that the sculptor , not fully informed of the iconographic conons, made this type this type of representation of Balarama and Vishnu. But this is only a suggesion and I would welcome scholars to dwell upon this point.

The last important sculpture is actually not the central figure but the figure of the attendant on the right, that on the left having completely diappeared. This figure bears a halo which is indicative of divine status. The face of the sculpture is so damaged that at first sight it appears to be the head of some animal or goat. Viewed from another angle, however suspicions arise against this assumption, the line on the throat repr senting the folds of skin as shown on many Buddha and Hindu divinities images. Then we notice only Kundal in the left ear, the right having been left blank with elongated lobes. The right arm is raised up while the left is placed akimbo. Under the broken right arm can be seen a bifercation indicating another arm but the direction of these two hands cannot be stated clearly. No clear trace of the forth hand is visible on the left but the armlet on this arm too is peculiarly streshed horizontly and not turned inwords as would have been in the normal single hand case. A plausable explanation could be that the sculpture some how or the other left this side incomplete for it is beyond comprehension

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

to think of a deity with three hands only. If this surmise be correct this figure can be classified as a four handed one and though the AYUDHAS left no trace, on the basis of earning, halo and the raised right hand can be suggestive of Balrama.

I hope that all that I have stated agrees with your point and I would only too gladly welcome any suggestiva and improvement in this essay.

Thanks,

****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

THE JAINA AYAGA-PLATFORMS AT MATHURA : AN INTERPRETATION

By: R. Sengupta

The sculptured slabs called ayāgapatas which adorned some altars or platforms associated with the Jaina stūpas at Kankali Tila at Mathura are well known to scholars. Of the same type, though not similar in architectural disposition, are the āyaka-platforms attached to the Buddhist stūpas in the Andhradesa and elsewhere. The nature and meaning of the āyaga remain unexplained satisfactorily, as is the case with the āyaka about which Douglas Barrett[1] says, ' a term whose significance is as obscure as the function of the objects it describes'. In this paper an attempt will be made to interpret the function of such altars with relation to the stūpa. It must, however, be clearly understood that since the decorations, the symbols and the elements of a stūpa of the Jainas were the same as those of the Buddhists which survived those of the former, any discussion about the stupa architecture has necessarily to be dependant on the Buddhist analogy.

Buhler[2] translated the term ayāgapata as ' a tablet of homage' set up 'for the worship of Arhats'. According to V.S.Agrawala[3] the term āyaga has been derived from the Sanskrit word Āryaka and is the same as āyaka which is 'somewhat corresponding to the platform for flower offering known as puppādhana(Mahāvaṁśa 30.51) pushpagrahani vedika(Saddharmapundarika, 239.3)'. From a sculptured slab at Mathura, ayagas

---

1. Douglas Barret - Sculptures from Amaravati in the British Museum, p.35
2. Vincent A.Smith- The Jaina Stupa and other antiquities at Mathura p.14.
3. V.S.Agrawala - Indian Art, p.231

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

appear to have been installed at the four directions in front of each of the entrances, although Agrawala mentions ' four in each directions'. Anyway, the sculpture definitely shows the ayaga separate from and in front of the stupa. In the Andhradesa the ayaka is a platform, projecting from the stupa, facing the entrances at the four directions. Luders and Burgess rendered ayaka as ' entrance'. K. Gopalachari[1] observed, on the basis of Amaravati inscription, that ayaka denotes 'something at the entrance' which appears to be the most rational and is in agreement with the nature of the ayaga of Mathura. What was then the function of a platform at the entrance to a stupa ? Certainly it was not appended only to receive heaps of floral offerings nor all the supas were provided with such platforms. At the same site at Nagarjunakonda where scores of stupas were constructed with the ayakas, there were many without the ayaka-platforms or pillars. Where did they put the floral offerings on these stupas ? Sculptures at Sanchi,[2] Jaggayyapeta[3] etc. show that garlands were hung on the horns projecting from the anda surface of the stupa. Floral wreaths offered to the supa were also hung to the torana, as shown in the Jaina ayagapata at Mathura donated by Śivayaśā.[4] C. Sivaramamurti

---

1. K. Gopalachari - Early history of the Andhra country p. 140n.
2. Sir John Marshall-The monuments of Sanchi, Vol. II, pl.XL
3. C.Sivarammurti - Amaravati sculptures in the Madras Government Museum, p. 24
4. Ibid, p. 23, fig. 1.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

has shown that even during the time of Kalidasa wreaths continued to be tied to a pair of torana pillars and fresh wreaths were tied to them every day. Thus if the āyāga was not provided for the sole purpose of receiving floral offerings, there must be some other significance which was unfamiliar to the Indian conception and that was why some Buddhist orthodox sects did not accept the idea of attaching the āyakas to their stūpas, nor to our knowledge, it has been found mentioned in any of the texts dealing with the construction of stūpa.

Let us view the matter in a broader perspective and with the proper background. Stūpas with āyakas have been reported from the sites of Taxila,[1] Ahichchatra and Vaisali[2] in north India. Those in the Andhradesa are at Bhattiprolu, Jaggayyapeta, Amaravati and Nagarjunakonda. The decorative motifs on these latter group of Stūpas betray much foreign influence which could be linked with yavana settlements, the largest of which in the western India was at Dhenukakata. According to the sabhāparva of the Mahābhārata mlechchas (c.f. Purochana, the architect of the Jatugriha was a mlechcha) had settled in the eastern and western coasts of the peninsula. We know of the Greek colony Nysa and the kingdom of Sophytes on the north-west frontiers, of those kingdoms on Indian borders following Alexander's invasion and of the subsequent relationship established by Seleukas Nicator

---

1. Sir John Marshal - Taxila, Voll. II, p.452, pl. 134 No. 56.

2. Indian Archaeology 1957-58 - A Review, pl. VIII B, p.10.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

with Chandragupta. The intercourse with the outer world, and the Greek world in particular, was greatly augmented during the time of Asoka when naturally there was much exchange of ideas. As is well- known it was Asoka who was responsible for imparting the tumulus, the prototype of stūpa, an architectural entity and a spirit of permanancy. Asoka had no inhibitions in utilizing foreign ideas and workmen to enrich the art and architecture and for the propagation of Buddhism. His governor in Kathiawar was a yavana named Tushaspa who embellished the Sudarsana Lake with conduits, Dharmarakshita, also a yavana was sent to the western India to propagate Buddhism; even his stone-edicts, rock-cut caves and pillar-ornamentations show this attitude. What more, his epithet Devānampiya mentioned, as many as 137 times, in his inscriptions has a striking similarity in the expressions, 'the favorite of the gods'[1] used by the Babylonian King Hammurabi and then 'beloved of the god'[2] by the Hittite King Hattushilish. But while utilizing foreign ideas he suited them to Indian conditions. The same attitude appears to have been at work in the use of the pillars in front of the stupas constructed by him. He adopted the Greek custom of their erecting Agyieus- pillar in front of the omphalas[3], also a grave mound and a shrine. At Mathura Agyieus- altar was used as āyāga in front of the stūpa, while in the Andhradesa

---

1. The Cambridge ancient history, Vol. I, p.511
2. O. R. Gurney - The Hittites, p.65
3. Jane Ellen Harrison - Epilegomena to the study of Greek religion and Themis, p.405, fig. 117.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

the altar was called āyaka and put at the entrance, attached to and projecting from the drum. Another innovation made by the Andhras was the addition of the āyaka-khambas, five in number, which ideas also appears to be a development of an earlier Greek usage.

As indicated above an omphalos was more often considered to be a grave-mound. It is also called the centre of earth, the navel. The Delphic omphalos inscribed in letters of the 7th cent. B.C. was supposed to be 'originally the mound in which the navel string of Zeus lay buried.[1] It had a square hole in the centre from top to bottom, probably to receive the Agyieus-pillar. The lime-stone replica of it was covered with a net-work, called agrenon, with numerious knots' to make security doubly secure'. Similarly an early Amaravati sculpture[2] depicts a stūpa covered with agrenon. An agrenon, according to the Greeks, is similar in character to the sacred garment so called. Interestingly, the Mahāvastu Avadāna[3] (391-392) includes the offering of a net to a stupa, among the pious acts, by virtu of which a person is assured of happiness, bliss, power, wealth and even Buddhahood:

> Yo jālakāni upanaye cetiyesu
> Lokapradīpe mahāpunyaksetre ।
> So mārajālaṁ vidhāpiya apramatto
> Bhoti narendro Daśabalo niskileśo ।।

Indeed, concerning the omphalos there appears to have been many ideas which compare favourably with those

---

1. Arthur Bernard Cook - Op. Cit., p.191, pl. IX
2. Annual report of the Archaeological Survey of India, 1908-09, pl. XXIX, d.
3. Radha govinda Basak - Mahavāstu Avadāna, Vol. II, pp. 528-30.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

regarding the stūpa. On a red-figured Krater in the Berlin Antiquarium inside the omphalos is shown an earth-goddess and on top of it is a tree. Obviously it depicts the idea of regeneration. At Lauriya Nandangarh, in one of the earthen stūpas, were found an image of earth-goddess and portions of a wooden post that once stood at the top. Amaravati sculptures show the crowning member as a tree made of numerous chatras branching out of it. In another aspect the tree on the omphalos was replaced by the conical Agyieus-pillar, as figured on the lekythos in the Naples Museum. Sculptures of stūpas in India and stūpas in Ceylon and Java were provided with pillars at the top. The snake, the child of Earth, painted on the omphalos, is supposed to guard the grave. We have sculptures of stūpas from Amaravati showing snakes in knots guarding the Ramagrama stūpa. The āyāgapatas of Mathura also show snakes with features of Gorgon a Hellenistic[1] representation. Then we have the Lycian solar symbol[2] of four rays issuing from a central circle, as seen on their coins of 5th-4th centuries B.C., sculptured on the āyāgapatas. These motifs and many others found at Mathura can without any doubt be attributed to the yavana workmanship, and likewise ideas associated with the omphalos were also brought by them. Although different in character, it may be mentioned here that a number of stylized version of the familiar Greek phiale mesomphalos datable to 3rd - 2nd

---

1. Arthur Bernard Cook. Op.cit. Vol.III, pt.769
2. Ibid. Vol.I,p. 300

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

cent. B.C. have been found in the excavations at Taxila.[1] One specimen of the same, of a slightly later date, has also been found at Nevasa[2] in the Deccan.

Whether or not the word <u>ayaga</u> was derived from the Greek word <u>Agyieus</u> it is for the philologists to debate, but there is little doubt that their architectural significance is the same. <u>Agyieus</u>, commonly associated with Apollon was defined as a pointed or conical pillar, sometimes as an altar set up before a doorway.[3] Another explanation given was '<u>Agyieus</u>, the pillar-shaped altar that stands before the doors'. So agyieus, be it a pillar or altar or pillar-shaped altar, was Apollon, protector-god of the gate. In this connection B.Hrozny[4] says, 'that the heieroglyphic - "Hittites", ...worshipped also the god of the gate <u>Apulunash</u>, whose emblem was a bunch of reeds were placed in front of the gates of the Sumerian temples and mats were originally hung on them. As the name for a gate in Babylonian is <u>abullu</u>, it is not difficult to conclude that the name of the god Apulun originated from this word in Asia Minor, in the third millenium B.C., during the Babylonish - Assyrian colonization, its meaning being "the god of the gate". From the heiroglyphic "Hittites" this god was taken over by the Lydians who called him <u>Pladans</u> and the Greeks with whom Apollon, symbolized by a pointed pillar standing before a door, is also the protector of the gate (of. <u>Apollon Thyraios</u>)'. So the Ashokan

---

1. Sir John Marshall - <u>Taxila</u>, Vol.II, pp.418-598, 612 - 15p. pl. 124 no.109; pl.175 no.289p; pl.140 n.p., 187 no. 10; pl. 188 no. 10.
2. H.D. Sankhalia, S.B. Deo and other - <u>From History to pre-history at Nevasa</u>, p.504, fig. 187, no.5.
3. Arthur Berneard Cook - <u>Zeus</u>, <u>a study in ancient religion</u>, Vol.II, pt. 1, pp. 160-61.
4. Bedrich Hrozny - <u>Ancient history of Western Asia, India and Crete</u>, p.147.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

pillars, in relation to stūpas, had a different function and that is why, to begin with they remained uninscribed but later inscriptions were got carved on them by Ashoka. The pillars were called dhamma-thambas. In the seventh Anga of the Jaina canon Uvāsagadasāo (218) Mahavira is said to be a great guardian (mahā-gova) and protects life with his staff of religion (dhammamayenamdandenaṃ sārakkhamāne).

The āyāga then was meant to serve as a protector god of the gate of the stūpa and since the alter represented a god it received floral offerings. In Ceylon the projection facing the gateway, called in modern Sinhalese vāhalkada, was known as ayaka. S. Paranavitana[1] says 'As long vowels rarely occur in the early Sinhalese dialect, it is certain that the word ayaka in Kanittha Tissa's (circa 226-244 A.D.) inscription is the same as āyaka. Not withstanding the fact, the ayakas of Ceylon, unlike the simple ayaka-platforms, were provided with an elaborate superstructure and consequently its intended significance and shape were forgotten, so that subsequently altars had to be provided especially for flowers and other offerings in front of the vāhalkadas of the stūpas at Anuradhapura and Mihintale.

For the sake of completeness of the picture of the āyakas it is also necessary to discuss about the nature of the āyaka-khambas. The use of five khambas or pillars on the āyaka-platform is peculiar to the Andhradesa. Here again Agyious appears to be the prototype. Agyious, as we already know is also pillar-shaped altar i.e. a pillar or stele placed on an altar. There are monuments in the kerameikos with altars showing remains of five holes on the

---

1. S. Paranavitana - The Stupa in Ceylon, Memoirs of the Archaeological Survey of Ceylon, Vol. V, p. 59

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

plinth where once five posts stood. Such altars were also painted on white lekythoi of the 5th cent. B.C. The holes for posts were shown on the drawing on the vertical surface. Explaining the nature of these holes R.C. Bosanquet said, "The darkened circles are really holes sunk in the horizontal, not the vertical, surface of the plinth, and correspond to actual remains on the base of more than one monument in the Kerameikos. Thus before the sculptured gravestone of Kerallion there are five holes, three and half inches in diameter, which are shown by the stumps of marble a labastra remaining in two of them to have been sockets for the reception of permanent marble substitute for the clay vases of unguents, which it was customary to leave as offerings on the steps of the tomb.[1] In the process of adaptation the feature was again Indianized, as Ashoka did earlier. The <u>Agyieus</u>-pillar was also considered as the universe column in the same manner as Agni or Surya was considered. Apollon, whom the <u>Agyieus</u> represented, was at the same time Phoebos, a solar deity. The <u>Rigyeda</u> mentions that Agni, the four-eyed (RV.I.32.3) as the universe column standing in the earth's centre (navel or <u>omphalos</u>) props up the sky (RV.III.5,9;IV-13,5). The sky at the four quarters was naturally required to be supported and thus the universe column with four pillars support the five regions of the sky (AV.III.20,9). In the front elevation they look like five columns in a row, representing the cosmos. In Mycenae too a group of divine pillars were worshipped. A lentoid intaglio[2] shows a male in the act of adoration before

---

1. R.C. Bosanquet -'Some early funeral lekythoi' in the <u>Journal of Hellenuistic Studies</u>, Vol.XIX(1899),pl.171. pl. II.
2. Arthur J. Evans - 'Mycenaean tree and pillar cult' in the <u>Journal of Hellanistic Studies</u>, Vol.XXI(1901) P.140, fig.24.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

a row of five columns of architectural character with vertical and spiral flutings. In the Bhagavata creed Pañcavīras were used to be worshipped together as mentioned in the inscription of Mahaksatrapa Sodasa. In the earlier representations of the Khambas at Amaravati all the five of them were treated alike, but later the central one was distinguished from the others, obviously to give due prominence to the universal principle of creativity and symbol of the life principle. From the fiery Sun other four elements are produced and life is sustained. In the Rigveda (I.59.1) the other fires are called the branches of the central one and 'Vaisvanara of the people sustaining men like a deep-founded pillar'. We know at Amaravati Buddha was worshipped as a pillar of Fire.

So the five pillars together stood for the universe column and protected the gate as did the altars or platforms, by whatever name we called them ayaga or ayaka or ayaka.

****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

SHORT COMMUNICATION

By: Aschwin Lippe

The writer regrets that he is not able to attend the conference. He also regrets that he could not prepare a paper, and that even this short communication is not sufficiently documented.

In 1963, Sri K.V.Soundara Rajan[1] identified the eight-armed Vishnu under the verandah-cornice of Badami cave III(578) as Ashtabhujasvami, a Tamil icon that also appears on the Virupaksha temple (ca. 740) at Pattadakal. He further suggested that the Badami relief, as well as the the Trivikrama and Hari-Hara inside the verandah, are additions to cave III which date from the Pallava occupation (ca. 642-54); he assigned the same date to the single dvarapala of cave I.

Independently from Soundara Rajan and at about the same time, this writer came to identical conclusions regarding the additions to caves III and I.[2]

After having been once more mentioned in passing,[3] this theory of additions and replacements was substantiated, and extended to other Chalukya monuments, in two more recent articles by this writer.[4] As for Badami caves III and I, the arguments put forward in these two articles demonstrate, we believe, beyond doubt that the reliefs mentioned above are indeed additions and replacements. At the same time, the writer presented his arguments in favour of a sequence III- II - I for the Badami Brahmanical cave-temples.

For several reasons, the Jaina cave no. IV has not been included in these discussions. It does, however, contain extensive additions as well, albeit from a later period.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

The basic features relate no. IV to the Brahmanical caves, especially nos. II and I. The cornice is supported by sárdula-brackets, the ceiling beams by yaksha-atlanti issuing from makara mouths. The verandah-pillars are square, with rudimentary stepped bases. The kumbha-capitals are flattened and square; they carry brackets with irregular roll-ornament (taranga) and raised median band.

The end walls of the verandah are decorated with two major reliefs. To the right, Pársvanātha is flanked by a kneeling crowned worshipper who wears the sacred cord, and by a standing nāgini hold ng a parasol; a naga is hovering above. The attendant figures are not quite finished. At the other end, to our left, Bahubali stands entwined by creepers; serpents are writhing up from his feet. The kneeling and standing worshippers and attendants once more are not completely finished.

Two crowned dvārapālas gaurd the cella entrance; they hold a flower and, respectively, a bough in one hand. We note the dehanche pose and the sacred cord falling over the upper arm.

In our opinion, all other sculptures are later additions. The end- walls of the shallow hall are decorated with tall, broad-shouldered standing Jinas under triple parasols. At least one of them can-by the three stylized curls falling over each shoulder- be identified as Ādinātha or Rishabhanātha. He is flanked by two smaller standing Jinas under triple parasols, and two seated deities. The elaborate prabha has, on each side, one row of seated Jinas above three rows of three standing ones. The upper part consists of stylized floral scrolls the ends of which are contained in circles; there is a kirttimukha on top.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Smaller standing Tīrthankaras flank the guardians of the cella entrance; others appear on each side of the hall-pillars. Their prābhas again have the stylized floral scrolls we know from Late Chālukya and Hoyśala sculpture; here generally in a pattern of staggered S-shapes. They sometimes are flanked by staggered seated Jinas. Elsewhere we see whole panels of repeated miniature Jinas. A seated Jina under triple parasol, flanked by a worshipper, is carved on the end-wall of the outer verandah.

In the sanctum, a broad-shouldered, seated Tīrthankara with three parasols is enthroned under a tree. He is flanked by crowned chauri-bearers, at least one of whom has a sacred cord falling over his upper arm. Gandharvas are hovering above.

The early sculptures as well as other features of the original cave can be related to the later Brahmanical caves, especially to cave I which we attribute to Pulakesin II and date to ca. 625. Pulakesin recovered the throne (ca. 610) with the help of his Ganga relatives who were patrons of Jainism. The unfinished Jaina temple at Aihole called "Meguti" is dated 634. The Badami cave was left unfinished as well; perhaps we can date it to ca. 635.

This seems to fit with the available comparative material. We date the Aihole Śaiva cave ("Ravan Phadi") to ca. 670-80; the Aihole Jaina cave consequently to ca. 690-700. The nude standing Śiva on the Mahakut Sangamesvara has to be dated to the early eighth century; the Śiva from the "Durga" temple, published by Burgess in 1874,[5] to the first half of the eighth century.[6] The Vasantagadh bronze Ādinātha is dated 687. The beautiful Pārśvanātha group at Kalugumalai has to be

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

attributed to around 800 (under Pandya Varagunavarman I);[7] the Ellora Jinas to the ninth century, probably to the reign of Rashtrakuta Amoghavarsha (814-65)[8]. The Ganga Gommatesvara at Sravana Belgola is dated 983.

The second group of sculptures in the Jaina cave no. IV at Badami obviously is much later than the first. It also appears to be later than the latest examples quoted above. Perhaps we can attribute it to the Hoysala period and to the twelfth century.[9]

---

1. Journal of Indian Museums, Vol. XIV-XVI (1958-60); the issue appeared with some delay.

2. Minuted of the 569th. Meeting of the New-York Oriental Club, April 2, 1963; Summaries of Papers, 26th. International Congress of Orientalists (New Delhi, Jan. 1964), ch. 6, no. 115, p. 150.

3. Lippe, Aschwin, "Some Sculptural Motifs in Early Chalukya Temples", Artibus Asiae XXIX / I (1967).

4. Lippe, Aschwin, "Additions and Replacements in Early Chalukya Temples", Archives of Asian Art XXIII (1969-70), and "Supplement, Additions and Replacements...", Archives... XXIV (1970-71).

5. Burgess, J., "Report on the Belgam and Kaladgi Districts", A.S.W.I. vol. I (London 1874).

6. Shah, U.P., "Bronze Hoard from Vasantagadh", Lalit-Kala 1-2 (1955-56).

7. Confirmed by Sri M.A. Dhaky.

8. Karl Khandalavala in Lalit-Kala 1.c.p.36; confirmed by M.A. Dhaky.

9. I gratefully acknowledge the opinion of Sri M.A. Dhaky.

****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

GENESIS OF JAINA LITERATURE AND THE SARASWATI MOVEMENT

By:Dr.Jyoti Prasad Jain

Art and literature are correlated, and to a considerable extent interdependent. For a proper appreciation of the art of a religious community or cultural group, therefore it is necessary to know what its literary traditions have been, and, if possible, to trace their genesis.

Jainism represents that current of ancient Indian culture which was known in very early times as the Arhata, Vratya, Shramana or Nirgrantha, just as modern Hinduism represents the sister culture known as the Barhata, Vedic, or Brahmāna. The foundation of Jainism is attributed to Rsabhadeva, the first Tirthankara who is said to have inaugurated the human civilization, taught various arts, crafts and trades to the people and invented the art of writing. The simple creed he and the twenty-three other Tirthankaras who followed him one after the other was fundamentally based on immortality of soul, and the capability of the individual mundane soul to achieve godhood by a course of self-discipline, purification, renunciation, austerity and perfect non-violence. The Tirthankara Arhat or Jina was the ideal to be adored and it is around him that Jaina Art centred and developed. The Tirthankaras preached and taught verbally in the lingua-franca of the times. Their teachings were collectively known as Jin Vani, Agama or shrut. The teachings of Mahavira (6th century B.C.), the last of them, were codified into twelve Angas, the fourteen Purvas forming the most important part of the twelfth Anga; besides there were number of miscellanea (Painnas). This body of canonical knowledge is flowed down by word of mouth through fenerations of teachers who acted as its custodians for about six or seven centuries after Mahavira's Nirvana in 527 B.C.. These cearly Jaina monks were very conservative and averse to writing down their scriptures even though the latter was rigidly and gradually suffering from diminution and deterioration. They were afraid lest by redaction the scriptures should suffer from corruption. Moreover, their vow of possessionlessness and the rules of asceticism which forbade them to reside in any one place for a long time or to associate themselves unduly with householders and city or town life made it impracticable for them to pursue such literary activities. And they thought that their religious order was so well organized that they could vouchsafe the integrity, genuineness and intactness of whatever portion of the original teaching of the Lord had come down to them by oral tradition. The institution of Samghacaryas(heads of congregations), Ganis (sectional leaders), Upadhyayas (professors), Vacakacaryas (readers or reciters), Uccaranacaryas (experts in spelling and pronunciation Pracchakacaryas (adept in asking questions), and so on, seemed to guarantee the preservation of the scriptures in their purity and original form even if they were not redacted and were only kept in memory and transmitted by word of mouth. Nevertheless, the canonical knowledge continued to decline in volume as well as in substance.

In the pontifical succession after Mahavira, Bhadrabahu Shrutakevalin (4th century B.C.) was the eighth. He was the last custodian of the entire scriptural knowledge preached by the Tirthankara. Owing to the occurrence of a twelve-year severe famine in northern India he emigrated to the South with the bulk of the Jaina Samgha. The origin of the great schism, which later developed into the Digambara and the Svetambara sects, is ultimately traced to this event. About a century later, a majority of the monks remaining behind in Magadha also shifted first to Ujjaini and then to Valabhi in Saurashtra. Mathura, however, continued to be a sort of meeing place of the divergent

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

sections and the gurus of this centre acted as a unifying force.

It appears that it was in Mathura that a movement for salvaging and redacting the canonical knowledge that had survived till then.

From the Kankali Tila site of Mathuraa mutilated image of goddess Sarasvati(now in the State Museum,Lucknow), with a book of loose leaves, the cover of which is marked with a gomutrika design, and the right hand raised probablyin varada mudra was discovered. Two small attendant figures, one in a Saka uniform, stand near its feet. According to the Brahmi inscription, the image bears it was dedicated by Gova, a worker in metal(lohika-karuka) and son of Siha, at the instance of Vacaka Aryadeva, the companion(sraddhacaro) of Gani Arya Magh Hasti, the disciple of Vacak Arya Hasta Hasti of the Kottiya Gana, Thani Kula, Vaira Sakha, in the year 54. Presuming the era used to be the S.E. of A .D. 78, the date of the inscription comes to A.D. 132.

This goddess is the presiding deity of learning and literature and the image in question is the earliest known representation of sarasvati. It might not, however, have been the first image of the goddess - the practice of setting up such images of Sarasvati might have started earlier, and even prior to the it must have taken considerable time to conceive and then to popularise this symbolic representation of literature.

For the bookless Nirgranthas, who had been averse to reducing their scriptures to writing, the installation of Sarasvati images with book in hand singular as well as significant. This image in fact symbolises in a remarkable manner the great Jaina renaissance which began to beat fruit by the beginning of the Christian era. This great Sarasvatmovement, as we call it, appears to have been initia ted by the Jaina gurus of Mathura and launche probably at the conference of the Jaina monks conve by king Kharvela of Kalinga about the middle of the 2nd century B.C. . It was this movement which opened the gates for the tremendous literary activities of the Jainas. The Karnataka or the southern branch of the Jaina Samgha readily took the cue. Several saintly scholars who were considered to authenti custodians of particular sections of canonical knowledge redacted them, while others wrote indepentreatises based on the canonical knowledge traditio handed down to them. Among the pioneers of Jaina book literature, Bhadrabahu II, Lohacharya, Kumarnandi, Kundakunda, Vattakera, Sivarya, Vimalsuri, Gunadhara, Aryamankhu, Nagahasti, Dharsena, Pushpadanta. Bhutabali an Umasvati, who lived during the several decades preseding and following the beginning of the Christian era, are important names.

The western section of the community also felt the impact of the Sarasvati movement and held several conferences to consider the redaction of the canon, but owing to differences in the readings and a conservative resistence by a majority of its leaders the work of redaction was put off again and again and could be accomplished only in the latter half of the 5th century A.D. at the council of Valabhi for which the credit goes to Devardhigani Kshmasramana.

This Mathura image of the goddess Sarasvati thus marks the marks the culmination of the Sarasvati movement to which we owe the book literature of the Jains and which was more or less contemporaneous with similar movements in the Brahmanical and Buddhist folds as well-it was the age of Patanjali,Valmiki,Sauti and Vatsyayana and also saw the redaction of the Buddhist Pali texts in Ceylon.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन साहित्य के पुस्तकीकरण की पृष्ठ भूमि— सरस्वती आन्दोलन

डा०ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

कला और साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अनेक अंशों में वे एक दूसरे के आश्रित, अनुसरती एवं पूरक हैं। प्राचीनतम काल से भारतीय संस्कृति की दो धाराएं प्रवाहित चली आई हैं, जिनमें से एक वाहित, वैदिक, ब्राह्मण आदि नामों से जानी गई और दूसरी आर्हत, व्रात्य, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि नामों से । इस दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व जैन संस्कृति करती है। इस परम्परा के अनुसार भोगभूमि की प्रकृत्याश्रित जीवन-व्यवस्था के अवसानकाल में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने कर्मभूमि एवं मानवी सभ्यता का उं नमः किया, मानवों को असि, मसि कृषि शिल्प और वाणिज्य की शिक्षा दी, विविध उपयोगी एवं ललित कलाएं सिखाई और अपनी पुत्री ब्राह्मी के निमित्त से लेखन कला का आविष्कार किया, यतः प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

ऋषभदेव द्वारा पुरस्कृत धर्म और संस्कृति, अहिंसा एवं निवृत्ति प्रधान रही। श्रमपूर्वक आत्मशोधन पर उसका विशेष बल रहा । उपदेश एवं तत्वज्ञान सरल था, किन्तु मार्ग कष्टसाध्य। ऋषभदेव के उपरान्त एक के बाद एक अन्य तेइस तीर्थंकरों ने उसी सरल मोक्षमार्ग का पुनः पुनः प्रचार किया । इनमें अन्तिम, छठी शती ईसा पूर्व में वद्र्धमान महावीर थे। इन सभी तीर्थंकरों का उपदेश मौखिक हुआ और वह जिनवाणी, जिनागम, श्रुत आदि नामों से अभिहित हुआ । महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने जो उपदेश दिया था प्रायः वही महावीर ने अपनी दिव्य ध्वनि में 'सर्व सत्वानां हिताय सर्व सत्वानां सुखाय' तत्कालीन जनभाषा अद्र्धमागधी प्राकृत में दिया । उनके प्रधान शिष्य, गणधर इन्द्रभूति गौतम ने उनके उपदेश को वर्गीकृत एवं संकलित किया । वह श्रुतज्ञान अंग प्रविष्ट एवं - - - . - - अंग बाह्य के भेद से दो प्रकार का था। अंग बाह्य में 14 प्रकीर्णक अथवा पइन्नाओं (मिसलेनिया) की गणना की जाती है। अंग प्रविष्ट श्रुत ज्ञान बारह अंगों में विभाजित है जिनमें से प्रथम आचारांग कहलाता है जिसमें साधकों की आचार संहिता का निरूपण है और बारहवां अंग दृष्टि प्रवादांग है जिसमें तत्वज्ञान एवं दार्शनिक विवेचन है। इसी अंग का एक उपविभाग प्रथमानुयोग कहलाता है जिसमें पुराण पुरुषों के चरित्र एवं ऐतिहासिक अनुश्रुतियां निबद्ध हैं। उसी का एक दूसरा, किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण उप विभाग 'पूर्वगत है जिसमें 14 पूर्व समाविष्ट है। पूर्वो के महत्व के कारण ही जिनवाणी को 11 अंग और 14 पूर्व भी कहा जाता है। ऐसा भी एक मत है जिसके अनुसार महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकरों से चला आया ज्ञान अधिकांशतः पूर्वो में समाविष्ट है और शेष 11 अंगों का अधिकांश महावीर की देन है। उपर्युक्त अंग-पूर्व विभिन्न वस्तुओं, अधिकारों और प्राभृतों में विभाजित हैं और यही भाषाबद्ध जिनागम या मूल जैन साहित्य है। गौतम आदि गणधरों के पश्चात यह श्रुतागम गुरु शिष्य परम्परा में मौखिक द्वार से प्रवाहित हुआ और लगभग 6-7 शताब्दियों पर्यन्त मौखिक प्रवाह में यह परम्परा सुरक्षित चली आई।

*** *** ***

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महावीर को शिष्य परम्परा के जैन गुरु निष्परिग्रही तपस्वी निर्ग्रन्थाचार्य थे। उनके मुनि जीवन के यम नियम एवं आचार व्यवहार ग्रन्थ रचना और धर्मोपदेश में तो बाधक नहीं थे, किन्तु पुस्तकों के लिखने के साधन एवं सुविधा प्रदान नहीं करते थे । चरित्र रक्षा के उपकरणों के रूप में एक कमण्डलु और एक पीछी को छोड़कर अन्य कोई वस्तु वे अपने पास या अपने साथ नहीं रख सकते थे । किसी एक स्थान में दो चार दिन से अधिक ठहर नहीं सकते थे। प्रायः बस्ती में वे रहते ही नहीं थे वन पर्वतों में ही तपश्चरण करते थे, केवल आहार लेने के लिये अधिक से अधिक एक दिन में एक बार निकटवर्ती बस्ती में जाते थे। अतः पुस्तकें लिखना उनके लिये प्रायः संभव ही नहीं था, और उनके लिये आवश्यक भी नहीं था । वे मौखिक उपदेश देते थे, शिक्षार्थी गृहस्थों, त्यागियों और मुनियों को शिक्षा भी मौखिक ही देते थे। उस काल में ब्राह्मण, बौद्ध आदि अन्य धर्मों के आचार्य भी प्रायः ऐसा ही करते थे। इसके अतिरिक्त जैन संघ का संगठन भी अत्यन्त सुव्यवस्थित था। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ था। श्रावक-श्राविका गृहस्थ नागरिक जीवन व्यतीत करते और उनके उपदेश का लाभ लेते थे। मुनि और आर्यिका एक दूसरे से पृथक रहते हुए तप, त्याग और संयम का साधु जीवन व्यतीत करते थे और आत्म साधना से बचे हुए समय को लोकोपकार में व्यतीत करते थे। साधु संघों में संघाचार्य, गणी, उपाध्याय, वाचकाचार्य, उच्चारणाचार्य, पृच्छकाचार्य आदि संज्ञाओं वाले मुनि अपनी विशिष्ट योग्यताओं के कारण उक्त पदों का कार्य सम्पादन करते थे। प्रत्येक संघ सुगठित, अनुशासित एवं नियन्त्रित था। उपाध्याय शिक्षा देते थे, वाचक मुनि आगमों की वाचना करने में प्रवीण होते थे, उच्चारणाचार्य पाठ और उच्चारण की शुद्धता बनाये रखते थे; पृच्छकाचार्य प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को स्पष्ट करते रहते थे। इस प्रकार गुरु शिष्य परम्परा में स्मृति में सुरक्षित रहता हुआ और मौखिक द्वार से प्रवाहित होता ज हुआ भी आगमों का पाठ एवं ज्ञान बहुत कुछ शुद्ध एवं अक्षुण्ण बना रहता था।

भगवान महावीर के निर्वाणोपरान्त लगभग दो शताब्दी तक यह व्यवस्था प्रायः पूर्णतया सफल रही। किन्तु 4थी शती ई०पू० के मध्य से लगभग कतिपय कारणों से उक्त आगम ज्ञान का शनैः शनैः ह्रास होने लगा । एक द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष के कारण आर्थिक दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो गई। एक राजनैतिक क्रान्ति भी हुई। जैनधर्म के दीर्घकालीन केन्द्रों में परिवर्तन हुआ, जैनसंघ इतस्ततः बिखर गया और संघभेद की भावनाएं प्रकट होने लगीं। इन्हीं सब कारणों से आगम ज्ञान में ह्रास होने लगा। जैन संघ के विभिन्न भाग, जो परिस्थितियों ने एक दूसरे से पर्याप्त दूर ले जाकर डाल दिये थे, केवल उन्हीं पाठों और पाठांशों को मान्य करने लगे जो उनके अपने-अपने समूह में सुरक्षित रह गये थे। देश-काल वातावरण, रुचि और प्रवृत्ति के भेदों ने आचार और विचार के भेद भी उत्पन्न करने प्रारम्भ कर दिये। फलस्वरूप धर्माचरण के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी मतभेद होने लगे। परिणाम यह हुआ कि परम्परागम के पाठों और अर्थों में भी हस्तक्षेप किये जाने लगे, प्राचीन अनुश्रुतियों को भी अपनी अपनी मान्यताओं के अनुरूप ढाला जाने लगा । अतः कतिपय धर्मवत्सल आचार्य इस बात की आवश्यकता का अनुभव करने लगे कि आगमों के तत्वज्ञानादि विषयक अधिक महत्वपूर्ण अंशों को शीघ्रातिशीघ्र पुस्तकारूढ़ कर देना चाहिये। उन्हें यह भय होने लगा था कि कहीं संघभेद की प्रवृत्तियां आगमों में काट-छांट,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिवर्तनों और क्षेपकों आदि के द्वारा इतना अधिक विकृत न कर दें कि उनका उद्धार ही अशक्य हो जाय ।

छठी-5वीं शती ईसा पूर्व से ही भारत के सम्पर्क खिल्दियन, ईरानी, यूनानी, रोमन, पह्लव, शक, कुषाण आदि भौतिकवादी पश्चिमी जातियों के साथ उत्तरोत्तर वृध्धिंगत हुए । इन संपर्कों के कारण भी भारतवर्ष में लिखने का प्रचार बढ़ता गया । 5वीं शती ई०पू०से ही हमें शिलालेखों के रूप में लेखन प्रवृत्ति की इस बढ़ती हुई लोकप्रियता के प्रमाण उपलब्ध होने लगते हैं, और 3री-2री शती ई०पू० में अशोक, दशरथ, सम्प्रति और खारवेल के शिलालेखों से जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ वह उत्तरोत्तर द्रुतवेग से बढ़ता गया । अकेले मथुरा से लगभग 200ई०पू०-200ई०तक के ढाई-तीन सौ शिलालेख मिलचुके हैं । अहिच्छत्र, कौशाम्बी, पभोसा, राजगृह, कहाऊं, पहाड़पुर, विदिशा, गिरिनगर, नासिक, आदि अन्य अनेक स्थानों तथा तमिलनाडु से भी उस काल के सैकड़ों शिलालेख मिल चुके हैं । ये प्रारम्भिक शिलालेख अधिकांशतः प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में हैं, साथ ही उनमें से अधिकांश जैनों और बौध्दों के ही हैं । उनसे स्पष्ट है कि भारतवर्ष में लेखन का प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने में जैन गुरुओं और जैन जनता का पर्याप्त हाथ रहा । उनकी इस लेखन प्रवृत्ति ने ही आगमों के पुस्तकारुढ़ करने के कार्य को निकट एवं सुगम बना दिया । प्रायः समान कारण बौध्द एवं ब्राहम्ण परम्पराओं में भी ऐसा ही प्रभाव डाल रहे थे । उनके विद्वान भी मौखिक परम्परा से चले आये अपने-अपने पुरातन धार्मिक साहित्य को पुस्तकारुढ़ करने के लिये प्रयत्नवान होने लगे थे ।

इस प्रकार ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पूर्व एवं पश्चात् की दो-तीन शताब्दियों में भारतवर्ष ने ज्ञान जागृति का एक अपूर्व युग देखा था जिसके फलस्वरुप ही ब्राहम्ण, जैन एवं बौध्द परम्पराओं का पुस्तक साहित्य प्रकाश में आना प्रारम्भ हुआ । यहां हमें विशेष रुप से जैनों के सम्बन्ध में ही कहना है । यह मान बैठना कि समय विशेष में कुछ जैन गुरुओं ने अकस्मात अपने आगमों को पुस्तकारुढ़ कर डाला और स्वतंत्र पुस्तक साहित्य का भी निर्माण कर डाला, कल्पनातिरेक एवं असंगत है । किसी एकबल से यह महान कार्य अचानक सम्पादित हुआ नहीं हो सकता । उसके लिये दीर्घकालीन एवं व्यापक आन्दोलन की आवश्यकता थी । धर्मशास्त्रों को लिपिबध्द न करने की रूढ़ि इतनी गहरी और चिरकालीन थी कि वह सहसा नहीं तोड़ा जा सकती थी । न जाने कितना कुछ प्रचार, कितने वाद-विवाद और सत्याग्रह उस आन्दोलन के चलाने वालों को करने पड़े होंगे ।

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त सरस्वती देवी की एक खण्डित प्राचीन प्रतिमा इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है । प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में लिपिबध्द अपने प्रतिष्ठा सम्बन्धी अभिलेख से युक्त यह प्रतिमा वर्ष 54 (सन् 132ई०) की है । देवी के बायें हाथ में डोरे से बंधी हुई एक पोथी है और उसका दाहिना हाथ संभवतया वरद मुद्रा में था । सरस्वती देवी ज्ञान और साहित्य की अधिष्ठात्री मानी गई है, और मथुरा से प्राप्त यह प्रतिमा जैन सरस्वती की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष में सरस्वती देवी की प्राप्त प्रतिमाओं में प्राचीनतम है । देवी के परिकर में दो पुरुषों की भी मूर्तियां उसके उपासकों के रुप में उत्कीर्ण हैं, जिनमें से एक साधु वेषभूषा में है । शिलालेख के अनुसार इस प्रतिमा का प्रतिष्ठापक सीह (सिंह) का पुत्र गोहिक नामक (लुहार) गोव (गोप) था, जिसने कोट्टियगण-स्थानीय कुलवृक्ष शाखा के वाचक आर्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हस्तहस्ति के शिष्य गणी आर्य नागहस्ति (पाठान्तर-मगुहस्ति, माघहस्ति) के श्रद्धाचार (कनिष्ठ सधर्मा) वाचक आर्यदेव के उपदेश से इस सरस्वती प्रतिमा की 'सर्व सत्वानां हितसुखाय' प्रतिष्ठा कराई थी। प्रतिष्ठा तिथि सम्वत्सर 54 की हेमन्त ऋतु के 4-थे मास का 10वां दिन है। लेख में किसी राजा आदि का नाम नहीं दिया है। इन्हीं गुरुओं के उल्लेखवाला एक अन्य लेख, संवत्सर 52 का, उसी स्थान से प्राप्त हुआ है। ये वर्ष प्रचलित शक सम्वत् के ही प्रतीत होते हैं जिससे इस सरस्वती प्रतिमा का प्रतिष्ठा वर्ष सन् 132ई0 आता है। पुस्तक धारिणी सरस्वती की ऐसी प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करने की प्रथा इस समय से काफी पहले से चालू रही होगी, और उसके भी पूर्व सरस्वती के इस रूप की कल्पना करने, उसके साकार करने, उसका प्रचार होने एवं रूढ़ होने में कम से कम तीन चार शताब्दियां तो लगी होंगी।

उन निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ, प्रायः वनवासी, तपस्वी साधुओं के द्वारा, जो अपने धर्मशास्त्रों को लिपिबध्द करने की प्रवृत्ति से विरत रहते आये थे, साहित्य की अधिष्ठात्री देवी का पुस्तक-धारिणी सरस्वती के रूप में कल्पना किया जाना और भक्त श्रावकों से उसकी प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराया जाना एक आश्चर्यजनक घटना है, जिसका महत्व भी स्वतः प्रत्यक्ष है। वस्तुतः यह सरस्वती प्रतिमा उस महान सरस्वती आन्दोलन का जीता जागता प्रतीक एवं प्रमाण है जिसके बीज पूर्वोक्त द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष से उत्पन्न परिस्थितियों में खोजे जा सकते हैं और जो संभवतया 2री शती ई0 पू0 के मध्य के लगभग प्रारम्भ हुआ, जिसके चलाने का प्रस्ताव कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल द्वारा कुमारी पर्वत पर आयोजित अखिल भारतीय महामुनि सम्मेलन में रखा गया एवं स्वीकृत हुआ, मथुरा संघ के जैनाचार्यों ने जिसका नेतृत्व एवं प्रचार किया, शीघ्र ही दक्षिणापथ के मुनिसंघ ने जिसमें सहर्ष सक्रिय योग देना प्रारम्भ कर दिया, जो प्रथम शती ईस्वी पूर्व के मध्य के लगभग ही सफल होने लगा था और 2री शती ईस्वी के मध्य तक प्रायः कृतकृत्य हो चुका था। इस आन्दोलन ने न केवल अवशिष्ट श्रुतागमों के महत्वपूर्ण अंशों के संकलन एवं लिपिबध्द किये जाने का कार्य सुगम बना दिया, वरन् जैनों की विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों का द्वार भी उन्मुक्त कर दिया, देश की विभिन्न भाषाओं में विविध विषयक पुस्तक साहित्य के निर्माण का मार्ग उनके लिये प्रशस्त कर दिया। इस आन्दोलन को ही जैनों की विपुल एवं अमूल्य साहित्यिक बपौती के अस्तित्व का श्रेय है। इसके अतिरिक्त जैन संसार का यह सरस्वती आन्दोलन प्रायः वैसे ही ज्ञान जागृति एवं साहित्य प्रणयन के उन पुनरुत्थान आन्दोलनों का समसामयिक है जो भारत की ब्राह्मण और बौद्ध परम्पराओं में भी उदित हुए थे और भारत के बाहर यूनान, रोम, मिश्र, चीन, ईरान आदि अन्य सभ्य देशों में भी उदित हो रहे थे। उसी युग ने भारत की राजनैतिक परिस्थितियों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रत्यक्ष किये। स्वयं जैनसंघ में इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप क्रान्तिपूर्ण घटनाएं घटीं। दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद उन्हीं घटनाओं में से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है।

सरस्वती आन्दोलन का समुचित मूल्यांकन करने के लिये महावीरोपरान्त शताब्दियों में जैन-संघ के स्वरूप एवं इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। अनेक दिगम्बर एवं श्वेताम्बर पट्टावलियों, [illegible] श्रुतावतार कथाएं, तिलोयपण्णत्ति और पयन्नाओं जैसे प्राचीन ग्रन्थ, आगमों पर निर्युक्तियां, चूर्णियां, भाष्य, जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति, धवल, जयधवल, [illegible] पुराण, आदि पुराण, कथाकोश, प्रबन्ध साहित्य शिलालेख,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलाकृतियाँ आदि इस काल पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं, और इन साधन स्रोतों की सहायता से हम प्रायः निश्चित रूप में प्रारम्भिक जैन संघ का और जैन पुस्तक साहित्य के प्रणयन के इतिहास का निर्माण कर सकते हैं ।

भद्रबाहु प्रथम (4थी शती ई0पू0 के लगभग) महावीर की शिष्य परम्परा में आठवें पट्टधर थे । यह अन्तिम श्रुतकेवलि थे, अर्थात् परम्परागत द्वादशाङ्ग श्रुत का पूर्ण एवं यथावत ज्ञान उन्हें था । उन्होंने द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष के आक्रमण को पहले से ही जानकर और इस आशंका से कि दुष्काल के दुर्दिनों में साधुजन अपने आचार-विचार में दृढ़ न रह सकेंगे संघ को यह आदेश दिया था कि वह विभिन्न दिशाओं में फैलकर सुरक्षित प्रदेशों में चला जाय । फलस्वरूप संघ का एक बड़ा भाग स्वयं भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिणापथ की ओर विहार कर गया । इस शाखा ने कर्णाटक देश को अपना केन्द्र बना कर सम्पूर्ण दक्षिण भारत में धर्मप्रचार किया । संघ के कुछ भाग सिन्धु देश, कलिंग देश आदि की ओर चले गये थे, किन्तु स्वयं मगध में भी कुछ साधु भद्रबाहु के आदेश की उपेक्षा करके रह गये थे । आचार्य स्थूलभद्र (357-312ई0पू0) इन मागध साधुओं के नेता हुए । अशोक मौर्य के समय में यह मागध संघ उज्जैनी में स्थानान्तरित हो गया । मौर्य सम्प्रति के प्रश्रय में यही प्रदेश इस शाखा का प्रधान केन्द्र बन गया । किन्तु सम्प्रति की मृत्यु के पश्चात उज्जैनी का संघ और पश्चिम की ओर हटकर गुजरात में केन्द्रित हो गया । इस प्रकार ईस्वी पूर्व 2री शती के मध्य के लगभग भद्रबाहु की परम्परा के साधु अपने कर्णाटक केन्द्र से महाराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, तमिलनाडु, तुलुव, आन्ध्र, कलिंग आदि दक्षिणापथ के प्रायः समस्त प्रदेशों पर अधिकृत थे, दूसरी ओर स्थूलभद्र की आम्नाय के साधु अपने वल्लभी (गुजरात) केन्द्र से पश्चिमी राजस्थान, पश्चिमी मालवा, गुजरात, काठियावाड़, पूर्वी सिन्धु पर्यन्त प्रधान थे । जैन संघ की ये दक्षिणी और पश्चिमी अथवा कर्णाटकी और गुजराती, दोनों प्रमुख शाखाएं अपने आचार-विचारों में, धर्माचरण की कतिपय विधियों और उनकी आधारभूत मान्यताओं में भी, एक दूसरे से उत्तरोत्तर दूर होती जा रही थीं ।

जैन संघ की एक दूसरे से दूर होती जाने वाली इन दोनों प्रधान शाखाओं के अतिरिक्त एक तीसरी महत्वपूर्ण शाखा भी थी, और इसका नेतृत्व मथुरा का जैन संघ करता था । मथुरा उपर्युक्त दोनों ही धाराओं के लिये एक मिलन स्थल था, उनके बीच की कड़ी था, और मथुरा के जैनाचार्य दोनों का समन्वय कराने के लिये प्रयत्नशील भी थे । उन्होंने अपना संगठन अपने निज के गणों, कुलों और शाखाओं के रूप में सुव्यवस्थित कर लिया, किन्तु स्वयं को उपर्युक्त इन दोनों शाखाओं में से किसी भी एक के साथ प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध नहीं किया । यही कारण है कि इस काल के मथुरा के कई महत्वपूर्ण आचार्य आगे चलकर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य हुए । पूर्वोक्त द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष से भी मथुरा प्रदेश को विशेष क्षति नहीं हुई थी । पाश्चात्य विदेशी प्रभाव भी मथुरा में ही अपेक्षाकृत शीघ्र एवं अधिक गहरे पड़ने प्रारम्भ हुए । ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों ही धर्मों का भी यह केन्द्र एवं मिलन स्थल था । और मथुरा का यह जैन संघ 2री शती ईस्वी पूर्व से प्रायः सम्पूर्ण उत्तरापथ के जैनों का नेतृत्व भी करने लगा था । मथुरा, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, कोल, उच्चैनगर (बरन), कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, कौशिटकपुर, वाराणसी आदि इसके प्रमुख केन्द्र थे । अतः उस महान सरस्वती आन्दोलन का उद्गम यदि मथुरा में रहा हो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन गुरुओं द्वारा हुआ CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh था ।

प्रायः इसी समय कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल ने यूनानी आक्रान्ता दिमित्र को मध्यदेश से निकाल भगाया था । दिमित्र ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था और साकेत पर्यन्त देश को आक्रान्त किया था । बहुत संभव है कि इसी अवसर पर खारवेल मथुरा के जैनाचार्यों के पुस्तकारूढ़ करने तथा जैन आम्नाय में पुस्तक साहित्य प्रणयन के लिये एक व्यापक आन्दोलन चलाने का प्रस्ताव रखा हो । संभव है उन्हीं की प्रेरणा से खारवेल ने अपनी राजधानी में वापस आकर कुमारी पर्वत पर एक विशाल सभा भवन का निर्माण कराया और उसमें अखिल भारतीय जैन मुनि सम्मेलन किया में अवशिष्ट श्रुतागम की वांचना भी हुई प्रतीत होती है, और उनके संकलन एवं पुस्तकारूढ़ करने का प्रश्न भी उठा प्रतीत होता है । किन्तु यह विचार तत्काल कार्यरूप में परिणत होना दुष्कर था-रूढ़ियां बाधक थीं, उसके लिये एक सतेज, व्यापक एवं धैर्यपूर्ण आन्दोलन की आवश्यकता थी। और वह आन्दोलन सरस्वती आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हो गया । सरस्वती की पूर्वोक्त प्रतिमा इस बात के लिये प्रलुब्ध करती है कि संभवतया आन्दोलन का यही नाम रहा होगा । मथुरा उसका प्रधान केन्द्र बनी, मथुरा के जैन गुरु उसके पुरस्कर्ता और प्रचारक बने, कर्णाटक आदि के दक्षिणी गुरु शीघ्र उनके सहयोगी हुए ।

आन्दोलन प्रारम्भ होने के पश्चात प्रथम एक सौ वर्ष में उसके जो सुफल प्रकट हुए वे प्रायः शिलालेखों के ही रूप में हैं । स्वयं खारवेल का विस्तृत हाथीगुम्फा शिलालेख उनमें सर्वप्रधान है । इस अभिलेख का प्रारम्भ ही अर्हतों और सिद्धों को नमस्कार रूप मंगलाचरण से हुआ है । अनेक धार्मिक प्रतीक एवं चिन्ह भी उस लेख के सिरों पर उत्कीर्ण हैं । इसके तुरन्त उपरान्त मथुरा आदि से जैन लेख मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं जिनका सिलसिला उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्राप्त होता है । इन धार्मिक अभिलेखों ने आन्दोलन के कार्य को प्रगति दी, लेखन प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया और लोकप्रिय बनाया तथा भावी ग्रन्थकारों के लिये मार्ग प्रशस्त किया । प्रथम शताब्दी ई०पू० के अन्त तक यह आन्दोलन अपने शिखर पर पहुंच गया था और लिखित ग्रन्थों के रूप में उसका उद्देश्य सफल होने लगा था । ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पूर्व और पश्चात् के कुछ दशकों में भारतवर्ष के उत्तर और दक्षिण दोनों ही खंडों में भद्रबाहु द्वितीय, कुन्दकुन्द, कुमारनन्दि, लोहाचार्य, शिवार्य, विमलसूरि, गुणधर, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, उमास्वाति प्रभृति कई ऐसे तपस्वी निर्ग्रन्थाचार्य हुए जिन्होंने अपनी लिखित रचनाओं से आन्दोलन को सफल बना दिया । और इन विद्वान ग्रन्थ प्रणेताओं का सिलसिला उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता चला गया । इनमें से जो आचार्य स्वयं को आगमों के संकलन एवं पुस्तकारूढ़ करने में सक्षम नहीं समझते थे, उन्होंने उस कार्य में हाथ नहीं लगाया, किन्तु उसके निष्पन्न हो जाने की प्रतीक्षा भी नहीं की और परम्परागत श्रुत के आधार पर विविध विषयक स्वतन्त्र रचनाएं निर्माण करना और लिखना प्रारम्भ कर दीं । ये सब आचार्य पुंगव ही जैन पुस्तक साहित्य के प्रवर्तक हैं, लिखित जैन साहित्य के आद्य पुरस्कर्ता हैं । उन्होंने अपनी रचनाओं का आधार गुरुपरम्परा से प्राप्त मूल आगमिक ज्ञान-मौखिक आगम साहित्य या द्वादशांग श्रुत के उपलब्ध अंशों को ही बनाया । उसी का संक्षेप, विस्तार, प्रतिपादन, व्याख्यान और निरूपण अपनी-अपनी शैली और शब्दों में किया । उनके इस कार्य ने आगमों के संकलन एवं लिपिबद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन गुरुओं द्वारा हुआ तो क्या आश्चर्य ?

प्रायः इसी समय कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल ने यूनानी आक्रान्ता दिमित्र को मध्यदेश से निकाल भगाया था। दिमित्र ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था और साकेत पर्यन्त देश को आक्रान्त किया था। बहुत संभव है कि इसी अवसर पर खारवेल मथुरा के जैनाचार्यों को पुस्तकारूढ़ करने तथा जैन आम्नाय में पुस्तक साहित्य प्रणयन के लिये एक व्यापक आन्दोलन चलाने का प्रस्ताव रखा हो। संभव है उन्हीं की प्रेरणा से खारवेल ने अपनी राजधानी में वापस आकर कुमारी पर्वत पर एक विशाल सभा भवन का निर्माण कराया और उसमें अखिल भारतीय जैन मुनि सम्मेलन किया। उसमें अवशिष्ट श्रुतागम की वाचना भी हुई प्रतीत होती है, और उनके संकलन एवं पुस्तकारूढ़ करने का प्रश्न भी उपस्थित होता है। किन्तु यह विचार तत्काल कार्यरूप में परिणत होना दुष्कर था- रूढ़ियां बाधक थीं, उसके लिये एक सतेज, व्यापक एवं धैर्यपूर्ण आन्दोलन की आवश्यकता थी। और वह आन्दोलन सरस्वती आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हो गया। सरस्वती की पूर्वोक्त प्रतिमा इस बात के लिये प्रलुब्ध करती है कि संभवतया आन्दोलन का यही नाम रहा होगा। मथुरा उसका प्रधान केन्द्र बनी, मथुरा के जैन गुरु उसके पुरस्कर्ता और प्रचारक बने, कर्णाटक आदि के दक्षिणी गुरु शीघ्र उनके सहयोगी हुए।

आन्दोलन प्रारम्भ होने के पश्चात प्रथम एक सौ वर्ष में उसके जो सुफल प्रकट हुए वे प्रायः शिलालेखों के ही रूप में हैं। स्वयं खारवेल का विस्तृत हाथीगुम्फा शिलालेख उनमें सर्वप्रथम है। इस अभिलेख का प्रारम्भ ही अर्हतों और सिद्धों को नमस्कार रूप महामन्त्र से हुआ है। अनेक धार्मिक प्रतीक एवं चिन्ह भी उस लेख के सिरों पर उत्कीर्ण हैं। इसके तुरन्त उपरान्त मथुरा आदि से जैन लेख मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं जिनका सिलसिला उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्राप्त होता है। इन धार्मिक अभिलेखों ने आन्दोलन के कार्य को प्रगति दी, लेखन प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया और लोकप्रिय बनाया तथा भावी ग्रन्थकारों के लिये मार्ग प्रशस्त किया। प्रथम शताब्दी ई०पू० के अन्त तक यह आन्दोलन अपने शिखर पर पहुंच गया था और लिखित ग्रन्थों के रूप में उसका उद्देश्य सफल होने लगा था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पूर्व और पश्चात् के कुछ दशकों में भारतवर्ष के उत्तर और दक्षिण दोनों ही खंडों में भद्रबाहु द्वितीय, कुन्दकुन्द, कुमारनन्दि, लोहाचार्य, शिवार्य, विमलसूरि, गुणधर, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, उमास्वाति प्रभृति कई ऐसे तपस्वी निर्ग्रन्थाचार्य हुए जिन्होंने अपनी लिखित रचनाओं से आन्दोलन को सफल बना दिया। और इन विद्वान ग्रन्थ प्रणेताओं का सिलसिला उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता चला गया। इनमें से जो आचार्य स्वयं को आगमों के संकलन एवं पुस्तकारूढ़ करने में सक्षम नहीं समझते थे, उन्होंने उस कार्य में हाथ नहीं लगाया, किन्तु उसके निष्पन्न हो जाने की प्रतीक्षा भी नहीं की और परम्परागत श्रुत के आधार पर विविध विषयक स्वतन्त्र रचनाएं निर्माण करना और लिखना प्रारम्भ कर दीं। ये सब आचार्य पुंगव ही जैन पुस्तक साहित्य के प्रवर्तक हैं, लिखित जैन साहित्य के आद्य पुरस्कर्ता हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं का आधार गुरुपरम्परा से प्राप्त मूल आगमिक ज्ञान-मौखिक आगम साहित्य या द्वादशाङ्ग श्रुत के उपलब्ध अंशों को ही बनाया। उसी का संक्षेप, विस्तार, प्रतिपादन, व्याख्यान और निरूपण अपनी-अपनी शैली और शब्दों में किया। उनके इस कार्य ने आगमों के संकलन एवं लिपिबद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने के कार्य को भी सुगम, संभव और निकट साध्य बना दिया । दूसरी शती ईस्वी के अन्त तक सरस्वती आन्दोलन कृतकृत्य हो चुका था । जैन संघ की पश्चिमी शाखा जो प्रथम शती ईस्वी के उपरान्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई अभी चार-पांच शताब्दियों तक और भी लेखन प्रवृत्ति का विरोध करती रही, किन्तु अन्ततः उसे भी समय की मांग के सम्मुख मस्तक झुकाना पड़ा । और 5वीं शती ईस्वी में उसके भी तदावशिष्ट आगम देवर्द्धिगणी द्वारा वल्लभी नगरी में लिपिबद्ध कर लिये गये । यह भी ध्यातव्य है कि दूसरी शती ईस्वी के प्रारम्भ में प्रतिष्ठित सरस्वती प्रतिमा के हाथ में एक पुस्तक का पाया जाना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि उससे कम से कम तीन-चार सौ वर्ष पूर्व से ही जैनी उन पुस्तकों से भलीभांति परिचित **रहे** थे और मौखिक परम्परा से चले आये पाठों, सूत्रों, श्रुतागमों के अतिरिक्त उनका अपना कुछ न कुछ पुस्तक साहित्य भी अवश्य विद्यमान था ।

** **

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

PRATIMA SARVATOBHADRIKA

By: Deena Bandhu Pandey

The term pratima sarvatobhadrika 1 (the image auspicious on all sides 2) or sarvatobhadra pratima 3 or only as sarvatobhadra 4 has been used for a quadruple Tirthankara image since the Kushana period (circa. Ist-2nd centuries A.D.). The other term for such an image was chaturbimba 5 (the fourfold images). The quadruple Tirthankara images are commonly known and also recorded as chaumukha or chaumukhi or chaturmukha (four faced 6). Quadruple has been a favourite among the Jaina images.

Some scholars have considered the Jaina quadruples as comparable to the Brahmanic Trimurtis and to the four-faced Siva Lingas 7. It is also suggested that the quadruple form was adopted for Brahmanic images from the Jainas 8. However, in the light of the finds of four-faced Siva-lingas of the Kushana 9 and Sunga 10 periods the possibility of the borrowing of the quadruple idea seems to have been vice-versa.

The Sarvatobhadrika Tirthankara images may broadly be divided into two groups -1. Quadruple depicting four figures of a Jina on all the four sides; 2. Quadruple depicting four or more than four figures of different Jinas on four sides.

The original idea which would have provided the basis for fashioning the Sarvatobhadrika images is the ancient Jaina tradition of Samavasarana.11. Following this tradition a Sarvatobhadrika image should represent four images of a Jina on all the four sides. The examples of this type are noticed but rarely12 With the background of the Samavasarana tradition the images of the first group can be very clearly understood as the representation of the sermon of a Jina. Such an image also serves the practical purpose of a Jina being available to be worshipped from all the sides.

The representation of different Jinas on different faces of a quadruple does not correspond to the original conception of samavasarana. Sudhi De has considered this type being an advancement upon the original conception 13. What would have been the reason for such an advancement is a matter of speculation. No doubt the idea of the representation of the sermon of a Jina was left behind or at least modified and the artist was to carve the images of different Jinas perhaps to fulfill the religions needs of the sect. We have already noticed about the possibility of the emergence of Jaina quadruples on the pattern of the four-faced Sivalingas. The four faces of Siva have been depicted to some extent differently most probably to represent the different aspects of Siva. Perhaps the Jainas adopted the idea in their own way putting different Jinas on different sides. Where the sarvatobhadrika images present more than four Jinas it may be suggested that this way a simple advancement upon the four different Jinas increasing their number to twentyfour or so. It is interesting to note that the tradition of depicting the various forms of the deity together in the same icon was also popular in Vaishnavism, e.g. in the Vishnupattas.

In the first group of sarvatobhadrika images the depiction of Rishabhanatha 14, Sambhavanatha 15 and Mahavira 16 are noticed. The second group furnishes frequent examples of the depiction of Rishabhanatha, Santinatha, Parsvanatha and Mahavira. the first, sixteenth, twentythird and twenty fourth Tirthankaras respectively 17. In some cases Santinatha is replaced by Neminatha, the twenty second Tirthankara 18. The depiction of all the twenty four Tirthankaras, six on each face, is evidenced by

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

the single published example 19. The Surat bronze example depicts many seated Jinas in small niches on the upper part of the quadruple and around the main standing Jinas 20.

The sarvatobhadrika images of early period would have been either installed in open or in some building. Some examples of this period show a mortice in the top of the stone 21 in which perhaps an umbrella or some sort of capital would have been fixed. The Tirthankara images in the examples of the Kushana period are in the Kayotsarga-mudra with their cognizances and worshippers in the corners below 22 except in the Mahavira quadruple where the Jinas seated 23. In the Gupta examples the flying Vidyadharas above 24, Kubera and Hariti 25, and Navagrahas 26 below come in addition.

Some of the sarvatobhadrika images of the early mediaeval period are fashioned in the form of miniature temples on the four faces of which the Jinas in standing or sitting pose are carved in inches 27. There is every possibility thatthe upper portion of the earlier examples gradually developed and were designed like that of a Sikhara or the dome of a temple. However, by the early mediaeval period the Sarvatobhadra images in the form of miniature shrines. Probably these Jaina examples served the same purpose as the votive stupa or temples.

On the Jain quadruples the Tirthankaras important in the history of Jaina sect have been selected for depiction. Rishabhanatha, Santinatha, Parsvanatha and Mahavira all are well noted for their services to promote the cause of the sect. However, keeping in view the important positions of the above mentioned Tirthankaras it is a little difficult to explain for what reason Neminatha was included in the quadruple, replacing Santinatha. Since Neminatha is considered the cousin of Drishna in the Jaina tradition, it is quite probable that he owed his prominence to the fact that his affiliation to Jainism suggested that the Jainacult is superior to the other cults in general and Vaishnavism in particular. It might have been in this way that he was given a place in the quadruple images.

The depiction of more than four Jinas or twenty four Tirthankaras ma y be considered as the third stage in the evolution of the Sarvatobhadrika images. As the idea of representing the Samavasarana in quadruple images had in certain cases already been modified since long back, it could be regarded as a good experiment to depict all or many of Tirthankaras on the surfaces of miniature temples instead of putting only one or four of them. The Jaina quadruples seems to have combined the idea of Samavasarana together with the depiction of different Tirthankaras on votive Stupas or temples28. May it also be suggested that the panchameru images mark the final development of the Sarvatobhadrika images. Author is thankful to Professor S.K.Saraswati, Shri J.N.Tiwari and Shri Maruti Nandan Tiwari, B.H.U, Varanasi, for their valuable suggestions and help in preparation of the present paper.

1. Epigraphia Indica, Vol.I, p.382, No.II; Vol.II, p.203, No.XVI.
2. The term has been translated by G.Buhler as 'fourfold image'(Epigraphia Indica, [illegible], [illegible]-[illegible], [illegible]10). B.C.Bhattacharya(The Jaina Iconography, Lahore, 1939, p.48) and Sudhir De(Jaina Journal, Vol.VI, No.[illegible], p.27) render the term as 'auspicious from all sides', V.S.Agrawala has more correctly rendered the term as 'an image auspicious on all sides'(Mathura Museum Catalogue, Pt. III, Varanasi, 1963, p.27, B 66, [illegible]).
3. Epigraphia Indica, Vol.II, p.203, No.XIII; The word pratima

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

may be supplied for the obliterated portion after sarvat(o)bha-(dra).

4- Ibid.,210,part of inscription No. XXXVII.

5- Ibid., p.211,No.XLI.

6- See F.S.Growse, Mathura, 18883,p.118; Bhattacharya,op.cit;-p. 48; D.N. Sukla, Pratima Vijnana Lucknow, 1956,p.315; N.P.Joshi,Mathura Ki Murtikala. Mathura,1955,pp.18,66;De,op. cit., p.27.

7- Bhattackarya, op.cit.,p.48 Sukla,op.cit.,p.315

8- Joshi, op.cit., p.18,

9- Cf. J.N.Banerjea, Development of Hindu Iconography, Calcutta 1956,p.461.

10- - - - -
- - -

11-Cf.D.R. Bhandarkar, Indian Antiquary, Vol.XL,pp.125ff, U.P.Shah, Studies in Jain Art, Banaras 1955,pp.94f;Sudhir De, Jain Journal, Vol.VI, No.1,p.27. According to this tradition it is said that the gods erected square or circular assemblie for the sermon of the Jina, wherein, the Jina sits in the centre on a platform. On the other three sides of the Jina his life like images are installed so that he may be visible to the whole audience (for details cf. Shah, op.cit.,pp.85ff.)

12-Epigraphia Indica, Vol.II,p.211,No.XII, also f.n.31,J.Fergusson, History of India and Eastern Architecture, Vol.II, 1967 reprint, p.46; Shah, op.cit., pl.XI, fig.28.

13-Jain Journal, Vol.VI, No.1,p.27.

14-Fergusson, op.cit., p.46.

15-Shah, op.cit., pl.XI, fig.28.

16-Epigraphia Indica, Vol.II, p.211,f.n. 31.

17-Cf. De, op.cit., p.27.

18-Information from Professor S.K.Saraswati,B.H.U.,Varanasi

19-Jain Journal, Vol.VI, No.1, p.29, fig.c,found from Chatra, Purulia, of circa 11th century.

20 Shah, op.cit., pl.XXXIV, fig.84.

21-Agrawala, op.cit., p.11, Nos.167-69.

22-Loc.cit.

23-Epigraphia Indica, Vol.II, p.211, f.n.31.

24-Agrawala, op.cit., p.27,No.B65.

25-Loc.cit.

[illegible]

27-Jain Journal, Vol.VI, No.I, pp.28ff.,figs A,B,C,D;also Shah, op.cit.,pl.XI,fig.28;

[illegible]id., pl.XXIX, fig.78.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

A NOTE ON THE IDENTIFICATION OF THE SYMBOL NANDYAVARTA

By: P.K.Agrawala

Indian art is remarkably rich in its repertoire of auspicious and decorative motifs. Throughout the history of our sculpture an efficient language of meaningful symbols is found spoken with extraordinary ease and fascination. There are a number os such symbols like svastika, purnaghata etc. that are expressly identified by their definite names and from their obiquitons appearance through the ages notwithstanding some variation or modification in their rudimentary form and designing. But there are a few names which however pose a problem for their definite identification. One such word and motif is Nandyavarta. It occurs in early literature no less significantly than the words svastika or srivatsa, and is often included in the popular list of the astamangala signs. For example, it finds mention in the Vinayapitaka Aupapatika and other Jain canonical sutras, Mahabharata, Divyavadana, Lalitavistara, Mahavastu, Mahavyutpatti, Angavijja, Brihatsamhita, etc. with significant repetitions. This no doubt specifies to its wide popularity with all religious sects and well understood symbolism.

However, it has not been possible as yet to identify its representation in early Indian sculpture. What was its design and rudimentary appearance is a difficult question to answer. Prima facie some scholars would possibly like to connect Nandyavarta with Nandipada or Gospada the well known tawine motif drawn upon or resembling the foot-print of cattle. But that hardly appears to be correct line of investigation.

First, let us try to interpret the significance of the word itself. It is probably to be understood as a compound of 'nandya' and avarta, the latter part being of principal significance. Avarta denotes a spiral, a screw or a winding design of liberinthine character. Nandya appears to signify "pleasing", "joyous", or "auspicious". Thus nandyavarta would literally mean a "pleasing spiral" design, with probably liberinthine tendencies in formulation.

But this hardly leads us any further as to defining the shape of nandyavarta. Traditionally the Jain community today knows a motif by the name nandyavarta that is drawn like a svastika with its four ends extending in a complex manner as carrying out the lines in further elaboration.

What the Acara-Dinakara, a late text, has to say on nandyavarta offers some clue to its shape:- atascaturdha navakonanandyavartah. It indicates the fourfold or quadruple nature of this symbol, besides that it has nine angles or corners.

Further light in shed on this point by the commentary on the fourth sutra of the Aupapatika. It explains nandyavarta as follows:-

pratidig navakonah svastikavisesah rudhigamayah.

That is, 'a variety of svastika with nine corners in each direction, and to be understood conventionally'.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Now, I would like to apply this definition in case of the traditionally accepted form of the symbol. Strikingly enough, the above three features given by the two texts very well explain the form known in the living tradition, namely.

1. It is a type of svastika.

2. It has four" nine-cornered" features or is nine-angled in each direction.

3. Its form in fact is to be understood only as handed down in tradition.

Now the problem arises as to its occurrence in early art. On one hand the early literary sources mention it many times, but on the other hand the above discussed form of this motif is hardly met with in 'Sunga' Kushana or Gupta sculptures. Any way, we have to look for the rudimentary design of the symbol as it be embellishing the early reliefs though not recognised by us uptil now by the name nandyavarta. Since it seems likely that in the earlier tradition it had possibly some design of which the nandyavarta known through the living tradition is an evolved and complex variation, I would like to propose that originally nandyavarta had some thing to do with svastika and was probably a typical form or variation of svastika with some feature of avarta or spiral design. Can it be the name for the svastika with screw-like or winding arms which one finds on the punchmarked and tribal coins and in early reliefs ?

*****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

BHARATIYA JNANPITH,DELHI

Proposed book on Jaina Art and Architecture To Commemorate
2500th Nirvan of Bhagwan Mahavir

GENERAL CHAPTERS

I.	Introduction	A.Ghosh(General Editor)	(pp.15)
II.	The background and Tradition	M.N.Deshpande	(pp.15)
III.	Spread of Jainism	S.B.Deo	(pp.15)
IX.	Mugal Paintings	C.Sivaramamurti	(pp.15,pls.15)
X.	Miniature Paintings	Karl Khandelavala & Mrs. Sarayu Doshi	(pp.25,pls.30)
XI.	Canons and symbolism of architecture		(pp.25,pls.25)
xII.	Conons and symbolism of iconography	U.P.Shah	(pp.40,pls.40)

Periods / Regions	(a)Northern India (excluding Bundelkhand Districts)	(b)Eastern India (Bihar, Bengal, Orissa)	(c)Western India (Gujarat,and south western Rajasthan)	(d)Central India (Madhya Pradesh and Bundelkhand Districts of U.P.	(e)The Deccan	(f)The South
IV.Early Historical period (B.C.300 to A.D. 300)	D.Mitra (Mathura) (pp.15,pls.20)	D.Mitra (pp.15,pls.15)	U.P.Shah (pp.5 pls.5)	--	--	--
V.Classical Period(A.D.300 to 600)	N.P.Joshi (pp.15,pls.15)	---	U.P.Shah (pp.5,pls.4)	U.P.Shah (pp.25,pls.25)	--	--
VI.Early Medieval period(A.D.600 to 1000)	Krishna Deva (pp.11,pls.16)	P.Banerji (pp.15,pls.15)	Krishna Deva & U.P.Shah (pp.13 pls.18)	Krishna Deva (pp.11,pls.16)	K.R.Sirinivasan (pp.25,pls.50)	K.R.Srinivasan (pp.25 pls,40)
VII.The medieval period(A.D.1000 to 1300)	M.C.Joshi (pp.15,pls.25)	S.K.Sarswati (pp.5,pls.10)	Krishna Deva & U.P.Shah (pp.30,pls.50)	Krishna Deva (pp.20,pls.30)	K.V.Soundara-Rajan(pp.15, pls.25)	S.R.Balasubralmanya (pp.15 pls.20)
VIII.Late Medieval period (A.D.1300 to 1800)	M.C.Joshi (pp.10 pls.20)	--	U.P.Shah (pp.15,pls.20)	K.D.Bajpai (pp.10,pls.20)	P.R.Srinivasan (pp.20,pls.30)	K.V.Soundara Rajan(pp.15,pls. 25)

Lucknow
29th January 1972

Lakshmi Chandra Jain
Hory.Secy.Bharatiya Jnanpith

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

SOME OBSERV‌ATIONS ON THE रायपसेणिय

By; R.C.Sharma

रायपसेणिज्ज or राजप्रश्नीय forms the part of the twelve उपाङ्ग of the Jaina literature particulerly of the Svetambara sect. The presentation of a paper on this subject was suggested by Dr. Joshi Director of the State Museum and presently our chief host also. But presently I am not is a position to do full justice with the subject. Only one book with translation by N.V.Vaidya was available. I banked upon the English translation for some time but soon I realised that the subject is going beyond my approach as the Prabrit terms as translated by Vaidya did not conwy the exact meaning. If I am to be excused I may take the liberty to say that he has probably not followed the architectural scheme of the work. A few illustrations would suffice. The थूभ or stupa has been interpreted as a sacred pillar and the वेइया or वेदिका is an alter for him. Similarly सालभंजिका or शालभंजिका are merely dolls and [illegible] as nails.

If these terms are interpreted in the manner as Vaidya has done the student and Indian architecture is going to be utterly confused. It was known to me recently that the great scholar who is gracing this seminar . Dr. Motichandra has explained the architectural terms in a research article which unfortunately has not been available yet, and I have requested him to sen a report. The original Prakrit text and its Sanskrit commentary, however, proved of much use and the whole scheme became more and more vivid and clear.

No doubt the work is full if repetions and sometimes unnecessary details hence boring and dull too yet it gives a very good account of the experiments and practices being introduced and followed in the contemporary Indian architecture. The word contemporary suddenly but rightly put us on the cross road and we are tempted to know the period. While much can be argued about from the description the Siddha temple in the Sudharma Sabha and particularly on the basis of the Jina icons as mentioned रायपसेणिय should be placed somewhere in the Kushana period. Dr. Motchandra confirms this dating.

The brief episode records the homage of god Suryabha to Lord Mahavira when the later was exercising the penance in आमलकप्पा. First he saw the great saint from his divine abode [illegible] in the heaven and asked the servant gods [illegible] gods to go to आमलकप्पा and prepare the place in advance befiting his visit by removing grass, leaves, sticks, sand imurity, dirt, filth and stinking matter in the vicinity of Mahavira upto one योजन and then by sprinkling the ground with fragment celestial shower and shower of plenty flowers to cover. This description is useful know that a sacred place was desired to be throughly neat and ~~a~~ clean and its environment looked rather super mundal.

God Suryabha then asked some attendants gods to prepare a divine car (विमान) to proceed to the place where Mahavira was practicing austerity. The details of this car shall be discussed subsequently. Flanked with his large roturn Suryabha came to pay respect to Lord Mahavira and asked some questions which may probably justify the caption of the work [illegible] or [illegible] . Some questions were also asked by Gautama about Suryabha Vimana and were answered by the Lord in great detail.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

This central sheme and specially the building details have been so elaborately rendered that the work has become an encyclopedia of early Indian architecture. I do not see there remains any motif of Jaina architecture which does not fird mention in [illegible] and a comparative study of these terms with contemporary architectural remains is very thrilling. The decription of Suryabha Vimana is not the description of celestical chariot or an ancient aeroplane but it is an account of planing of a perfect metropolis and at many places enumerates the town planning scheme of Kantilya's Arthashastra. On being asked about the situation of [illegible] Lord [illegible] explains that it is to the east of [illegible] and measures 12 lacs and 50 thousand Yojanas in length and breadth and 39 lacs 52 thousand 848 [illegible] in circumference. Its rampart is 300 [illegible] in ht. 100 [illegible] in breadth at bottom 50 [illegible] in middle and 25 [illegible] on top assuming a tapering shape and stidded with jewels and gold. The rampart was also consisting of several cornices ornamented with jainas in different colours. Each wing [illegible] had 1000 doors which were 500 [illegible] high with various motifs. These gates were surrounded by railings with lofty pillar and a pair of artifical [illegible] serving as mechanical device probably for flying. These appear to be bracket figures joining the beam with the pillar of the gate. Decoration and paintings of the doors and leaves have also been discussed in detail which I am avoiding. The 16 pillars on both sides of the gate represented beautiful female figures whose delicate anatomy can be judged from the fact that their waist could easily be grasped by the first. They had high bosoms with red corners of eyes black hair and hair auspicious. They were gracefully standing beneath the Asoka tree holding the branch of the tree and attracting the visitory by their glances and amorous postures. The description to a large extent resembles the upright pillars from Mathura.

The doors on both sides had series of 16 latticed windows followed sends of bells. The door on entrance had 16 [illegible] large size platforms which contained other architectural complex decorated with paintings, jewels, flags, umbrella miniature or votive Stupas studded with gold representing different lotuses. The doors on each side also had 16 arches supported on pillars and each arch in its front had ivory pegs decorated with garlands. Dr. U.P.Shah has shown such pegs in a slide yesterday. The arches also had two pairs of mirrors on stands and Mr. Sengupta's slide showing square object on a high stool or pedestal might stand for the pair of mirror instead of [illegible]. Eight auspicious things were also placed above the [illegible]

The [illegible] on each door had 800 banners with a sign of wheel and other emblens as described above. It had 4000 doors. The main bolt was called . In four directions of the [illegible] were extensive lawns and groves with beautiful lotuses and other flowers sucked by bees. Variety of creepr is also carved. The interior of [illegible] smooth cha-rming and even...

Sudharma Sabha:

To native estate of the central palace in [illegible] -- is Sudharmasabha being 100 [illegible] in 1.50 in h. and and 72 Yojana in ht. It is again supported on many hundred pillars Khambha Saya Sannivittha lofty railing, Toranasala [illegible] and divine rymphs. It had three doors to east to couth and to north with a mukhamandapa which also consisted of doors depicting auspicious motifs, flags and umbrellas. Infront of each Mukha-mandapa in each direction was an audience hall Pekkhaghar. It appears that the Sudharma Sabha was divided into various compartment

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

like the present stadiums. In the centre was a jewelled platform and Stupa with various motifs and consisting of life size jina images sitting in [illegible] facing the Stupa. The images represented [illegible], [illegible], [illegible] and [illegible]. The platforms also had [illegible] beautifully decorated with jewels and gems depicting eight auspicious symbols. Infront of these [illegible] were platforms with [illegible] banner which were soft, polished cleaned and well balanced scraping the sky and decorated with [illegible].

Infront of [illegible] banners were to be seen [illegible] with lotus, staircase, arches, flags, umbrellas. [illegible] had 48 thousand [illegible] which can be interpreted as raised seats and same number of [illegible] i.e. cushions or sofas. Right in the centre was a big jewelled dais with sacred pillar, [illegible] with 48 corners 48 tips as [illegible]. The central portion of the [illegible] consisted of golden and silver slabs and ivory pags on which suspended diamond caskets with bones or relics of jinas and [illegible]. We also come across some heads of the gods to east of [illegible] ...

To native estate of [illegible] was a big temple of [illegible] known as Siddhayatama in centre of which was a big platform as devechandaga consisting of 800 life size Jina images. Their palms and soles were of gold besides several other limbs. Lohitassha susrie were inserted and the Srivatsa was marked over the chest Behind each idol of Jina were chauri bearers standing erect and infront for Jinas were Naga Bhutas Yaksha and other attendants. There were also placed 800 bells 800 pitchers or full vast 800 mirrors beskets full of feathers, flowers and other things.

Again to the native estate of the [illegible] was [illegible] [illegible] or meeting place of gods, then coronation hall followed by [illegible].

—x—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

A NOTE ON THE GANGA JAINA SCULPTURES IN KAMBADAHALLI

By: M.A.Dhaky

The Gangas of Talkad (Talkadu) were among the royalties foremost in patronizing Jainism in Karnatadesa. The evidence of Gangas Jaina persuation comes from around the sixth century and the dynasty seems to have stuck to Jainism till it met its end as the ruling clan in Gangavadi, which was about the end of the tenth century.

The epigraphical evidence for the existence of Jainism in Gangavadi dates from around the seventh century, at Sravana Belgola (Sramana-Belgula), the site which in due course became one of the holy of the holies of Digambara Jainism in South India. While the Ganga princes are known to have founded Jaina temples, the evidence of their constructional activities is mostly from Kuntala proper, from places such as Annigera and Purigere, rather than from their own homeland, Gangavadi. But in their time, particularly from about the third quarter of the tenth century, in the period of Racamalla IV, we see a n outburst of Jaina religious architecture, sponsored by the Minister Camundaraya and contemporaneously, perha-ps, by other Jaina officials and tradesmen and by Jaina laity as well. The centre, pivotal as also of prolonged Jaina building activities, was of course the famed Sravana Belgola. The two other places where Jaina[1] foundations of Ganga extraction exist are Kambadahalli and Varuna.

Some of the older Ganga buildings of the Jaina creed are on the Candragiri Hill at Sravana-Belgola. The Candragupta-basadi (983) are the earliest of the groups of buildings there. The Jaina temples at Varuna are now perished; their sacred images are now scattered around near the old ruins; but the Kambadahalli temples are in tolerably good condition, and possess most of there sculptures intact.

Not much sculpture is associated with the Jaina Ganga temples. There is some in the hara(string-course) and on the grhapindi (wall of the upper storey) of the Camundaraya-basadi and in the niches on the walls of the Pancakuta basadi at Kambadahalli.

The decorative sculpture associated with the Sravana Belgola example are the seated Jina figures in salas,[2] Kutas[3] and panjaras[4] in the hara, and the images of Yaksa Sarvanubhuti and, in several instances, of apsarases beneath the alpanasis[5] in the harantara intervals. The Kambadahalli temple has standing Jinas in torana-bearing niches, some missing.

Then there is one other category of images, cult and quasi-cult such as of Jinas in the sanctuaries proper, and of Yaksas and Yaksis placed in the antarala (vestibule)or in the mandapas, halls. Such images in some instances are contemporaneous with the shrines; but in some they are of different dates, mostly later, and also in differing styles.

The Candragupta-basadi at Sravana Belgola has the image of standing Parsvanatha of excellent workmanship. The present mulanayaka images in the sanctum of Camundaraya basadi is of course a replacement of the Hoysala period. The Kambadahalli temples have their cult and other images original and in situ.

In the present paper I wish to make a bried survey of the relatively earlier sculptures, which are of undoubted Ganga affiliation. For in Kambadahalli, just as in Varuna and in the Tyagada basadi on the Gommatagiri Hill at Sravana Belgola, there are sculptures of what may possibly represent the late Ganga or rather the post-Ganga phases, in strains more than one. Some among the latter

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

group are akin also to early and middle Hoysala, going by style-judgement.6

Kambadahalli possesses two Jaina temples, the Pancakuta basadi is relatively the older building. The second building is the Santinatha basadi. Both the buildings are in Dravidian style. I shall not go into the architectural details of these temples, but refer to such features which serve the discussion to follow. The Pancakuta basadi consists of two groups of shrines separately done but conceived as parts of the total lay out. There is, first, a three-shrined temple, the constituent shrines disposed around and articulated to a common hall; the group as a whole faces north. A little distance in front of the hall-porch, is a twin-shrined temple, one of the shries facing east and the other west; the halls of the two are conjoined by a common porch. The assemblage is surrounded by a prakara (well) having a pratoli (gate-house) in the north.7

The sancta of the Pancakuta basadi contain seated Jina images with cauri-bearers, two of which I here select for illustration. The Jina in padmasana of fig. 1, with halo broken but rest intact, is a good example of Ganga workmanship, the head in particular. But it is the cauri-bearers, more than the Jina, which in this example are of artistic value. Each of them is provided with a small nimbus. The cauri-bearer on the left (from viewer's standpoint) is more elegant and seems as though rendered in a painte ly fashion. This is reflected in the sculpture's contours, the posture, the tilt of the head, just as in the treatment of ornaments, the manner of holding the cauri and in the flow and drop of the cauri. The figure has the grace of an Ajanta Avalokitesvara and gait and verve of the cauri-bearers in the late Kalcuri-Calukyan caves at Ellora. The cauri-bearer's beautiful kirita-crown is a forerunner of some of the Keralite types of crown whose descendents are to be seen in the Kathakali dancer's head-wear.

The Cauri-bearer's face is very noble; the eyebrows, the straight nose beautifully expanding at the lower and balance the finely formed lotus-petal lips. The bulk of the jewelled upavita departs from its border-string and gracefully curves to pass over the right arm; The departure and curvature combine to create a rhythm of uncommon elegance of the kind possible only in painting.

His counterpart is somewhat sturdy, seeming to pose less classically. The buckle of his upavita—present only in his case—compensated for the somewhat less graceful flow and drop of the upavita. His kirita is of the same type as of his companion. The pearl necklace and torque, the elaborate waist-band with prettily done knots, and the keyuras are of good design and go well with the posture and body-mass of both the camara-bearers.

The cauri-bearers with the second Jina (fig.2) are distinguished by a contrast in spirit and in details, if not in overall workmanship. The chauri-bearer on the left (spectator's viewpoint) seems to possess an assured physical strength replacing the elegant curve of the shoulders and bend of the torso of the corresponding chauri bearer in fig. 1. He wears an udarbandha (belly-belt) not found on the former figure, and the former's kirita is here replaced by a karanda crown. The undulating flow of the cauri, fully shown on the reflex-side, is very graceful This cauri-bearer has the poise and pretension of a Nagaraja.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

His counterpart, by comparison, is disappointing. He rather looks like a prosaic female attendent discharging his duty dispussionately, even somewhat perfunctorily. Seems th e carver is a lesser artist, accustomed to do female images of no particular elegance.

But it is the Jina image, which is par exallence the object of all attention, done as it might have been by a specialist of great competence. Jina's equipoised body has the stability of the famous Scribe of the Old Kingdom Egypt. His ample shoulders and massive arms seem to reflect the first moment of the congealed transcendence. The head matches the body in matter of proportion and in the feeling it creates of materialized spirituality. The arched eyebrows and the distinctly marked eyes- opened-, the shorter forehead balanced by the fuller chicks of Jina's elongate head draws in, rather than radiating out, the numinous power within his being. The expanding torso coheres with the rhytum of the contracting spirituality, of the king which only the gods of Ancient Egypt and Archaic Greece possessed. The Jina image is not only the finest Ganga creation for the Jaina creed it is one of the greater and profounder images of Jina, fully endorsing what the eleventh century western Indian work- the Vastuvidya - aptly qualifies as arupani rupamakiram Jina-Murti Jagadguru, the formal begetting from the formless, the image of Jina th e great Teacher.

The evenly spread, snail-shaped curls of the Jina reminds of the hair-do of Poseidon. The sancer-shaped nimbus re the head in its cavity and the flames at the corona, sparks Jina's omnis omniscience sent in all directions.

Of the several Yaksa and Yaksi figures in the Pancakuta basadi, the only one that is contemporary with the two Jina figures in the foregoing, is the figure of Yaksa Sarvanubhuti (fig.3). The Yaksas face has a faint tinge of joviality which a bhuta figure often possesses in South Indian rendering. The ornaments are somewhat schematically done, as in the case of some of the relief and other figures in the Camundaraya basadi.

A little distance to the most of the Pancakuta basadi stands one other Jaina temple, Santinatha basadi, founded as it seems to have been some years after the former temple. The architecture of the Pancakuta basadi seems slightly earlier than that of the Camundaraya basadi (983) and probably cowal with that of the Chandragupta basadi (3rd quarter). The Jina images, the heads, are akin to but seeming slightly earlier than the head of the famous Gommatesvara on the Vidhyagiri (Gommatagiri) of Sravana Belgola, confirming in a way the date suggested by the architecture. The Santinatha basadi, though showing links with the Pancakuta basadi in its pillar forms and sculpture, is assuredly later by about a generation, founded possibly at the end of the tenth century.

The huge, standing image of Santinatha in the sanctuary is both beautiful and impressive 9. The other two images which by style seeming works contemporary with the cult image, I choose here for illustration.

** **

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

The first is the seated Jina image(placed in the rear hall) with the two cauri-bearers standing behind the throne (fig.4). The composition is more articulate than the one we see in figs.1 and 2. The central Jina figure in this instance represents a different aesthetic as well as a separate formula of expression. 10 . The arms, somwhat tubular and longer as compared to the apncakuta Jinas, the torso elongate and upsurging as though under gentle but difinite and dicisive lateral thrusts, resulting in a compressed but not flattened mass, the oval,fruit like head with prominently picked out eyes and eyelashes and the horse-shoe shaped halo having ratnabandha (jewel pattern) along the rim, point to the direction of development which was also followed by the Jina figures at Lukkundi (Ca.1008) under the calukyas of Kalyani .

The two vahiksa with their flywhisks are in elegant bend (particularly the right one) are among the finest examples of the Ganga art at its finale. They show the medivalism in its early mood and in its early mood and in its more perfect moment.

The seated four armed Yaksa(fig.5),too, is differently conceived from the Yaksa in fig-3. The ornaments, now detailed and gorgeous, the face hardening yet expressive of inner calm, The elephantine legs and the corpulent belly add further contrast and the image sums to stand on the border of Late classicality and the early brooding of Karnath medievalism.

The last illustration represents the central panel(fig.6) of the asta Dikpala ceiling of the rear hall.11. The panel is crowded with figures which resolve into orderly and mutually belanced groups. The emphasis is on the central Jina who is sitting on lion-throne with gorgeous seat-back and a flaming halo with two very picturesque camara bearers on the back, much in the painterly way possissing an elegance of poise, and mood attentive. They look more real than symbolic. One other pair of valiks, Nagendras in fact) are equally evocative, standing as they do by side of the throne. Sarvanubhuti and Yaksi Ambika take their position at the bottom extremities with gestures, pistures and mood that blend with the rhythm of the composition. On the top, on wither side of the caitya tree are the flying Vidyadharas which introduce. dynamism to the stuately, very refined and delicately active group of figures encircling the Jina. This is one of the most beautiful compositions known from Jaina art.

The earlier, solid, monolithic, transcendence gives, in the these later examples gives way to worldly but rarified and refind elegance, illustrating that the Ganga Jaina art was capable of at its closing hour.

** **

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Notes and References:-

1. We as yet do not know about the situation is the Gangas' Talkadu. The town seems to have been buried under high silt desposited by Kaveri floods some time in the late Vijayanagara or post-Vijayanagara period. A few Brahmanical temples and some exzcellent Ganga sculpture of the tenth century have been cleared from under the 15th. silt. Still a very extensive mound remains to be cleared. Clearance may perhaps reveal the town's Jaina temples.

2. Aediculae of wagon-vault shrines.

3. Shrine-aediculaw placed over a vimana's corners, in the hara-ends.

4. The aediculaw of the fronton of apsidal shrines.

5. Minor caitya-windows, usually associated with the kapota (roll-eave).

6. Some of these I am discussing in my monograph, Joysala Sculpture.

7. For comprehending the layout, see Archaeological Survey of Mysore Annual Report 1939, plate VII.

8. Some of the figures in the Jaina Cave at Aihole (ca. late 6th century), including cauri-bearers, are rendered in a painterly way.

9. I regret I cannot illustrate this image. The negative was spoilt.

10. First illustrated as frontispiece in ASMAR 1939.

11. For the view of the ceiling, see ASMAR, plate 1.

** **

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

JAINA ART-CENTRES IN MADHYA PRADESH

By: K.D.Bajpai

Geographically the present region of Madhya Pradesh occupies the central position in the country. The recent excavations and explorations in some parts of the Chambal an d Narmada valleys have their thrown welcome light on the proto-historic Chalcolithic culture of central India. The work conducted by the Sagar University in the districts of Raisen, Sehore and Sagar has brought to light a number of interesting painted rock-shelters, implements and other relics, which may be called the vestiges of the ancient Sabar-Nisada cultures of the Vindhya region.

As regards Jainism, the early evidence of its spread in the Madhya Pradesh region is lacking. The Jaina tradition mentions the ancient city of Vidisha, where the image of Tirthankara Mahavira in the form of Jivantawami was worshipped It is said that this image was brought by king Pradyota of Avanti from Roruka (is Sindhu Savuira kingdom). Ratha-yatra processions were held in honour of the image at Videsha, as is known from the works like Avasyaka Curni and the Vasudeva Hindi.

Another city claiming association with Jainism was Uajjayaini. The Kalakacarya Kathanaka and other traditional accounts may be mentioned in this connection.

But in so far as the early art-relics are concerned the Jaina pantheon did not make a mark in central India similar to Buddhism. To well-known centres of the Buddhist art, Bharhut and Sanchi, flourished during the Singa Satavahana period. The rich and colourful art of these two sites occupies a significant place in our art-history.

Vidisha became a centre of Yaksha worship in the Sunga Satavahana period. Several Yaksha and Yaksi images so far discovered at Vidisha are remarkable both from the easthetic and iconographic points of view. The colossal Yaksha and Yaksi statues salvaged from the Betava river a few years back (now deposited in the Vidish Musum) are simply remarkable. The Naga cult also had its growth at Vidisha although its development here was subsequent to that of the Yaksa cult. The Naga worship both in the human and serpent form, was current in Vidisha and the region around from the Naga period to the early Medieval times.

The Saka-Kushana period witnessed the emergence of Mathura as a great art-centre <u>par-excellence</u> in Madhya-desa. Jainism and Buddhism found a congenial atmosphere at Mathura for their growth through visual forms. The numerous art-objects from Mathura associated with these two religions eloquently prove this.

Vidisha can be said to be the first important town in central India which came in contact with Mathura during the Kushana reign. In the succeeding period of the Naga rule, Mathura had closer relations with Kantipuri (Kutwar in the Morena dist.)., padmavati (Pawaya near Gwalior) and Vidisha. It is interesting to note that some of the art-relics of discovered at Pawaya and Vidish assignable to the 2nd-3rd centureis A.D., bear a clear impact of the Mathura style. The emotional vision (<u>rasa-dristi</u>) of the artists of Mathura endowed the visual forms of art with the dance and song of life. The sculpture was thus given the ennobling form of <u>lalitakala</u>, as visualised by Asvaghosa, Kalidasa and others. The Mathura sculptors were past masters in diffusion of the aesthetic sense in the art objects.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

It was at Mathura that the Jaina Tirthankara images were given for the first time, their distinctive iconographic symbology. The Srivatsa symbol appears clearly on the Jina images of Mathura. It may be mentioned here that the so-called earliest Tirthankara image from Lohanipur (near Patna) does not bear this symbol on the chest. The poor anatomical composition of this sculpture may also be taken into account.

The recent discovery of three inscribed Tirthankara images from Vidisha has brought to light evidence of unusual historical significance. Two of the images, according to the inscriptions on their pedestals are of Candraprabha and the third oneis that of Puspadanta. The inscriptions clearly indicate that these statues were caused to be made by Maharajadhiraja Ramagupta. I have no doubt that this Ramagupta is identical with the elder brother of Candragupta Vikramadiya. He can be indentified with the ruler whose copper coins in quite a large number are now known from the Vidisha - From region and who, like other rules of the Imperial Gupta dynasty, bore the title of maharajadhiraja.

A close study of these interesting Jina statues, would reveal that their compostion bears close affinities with the Tirthankara and Buddhist images of Mathura assignable to the transitional period or to the early Gupta age. The seating posture in dhynanamudra, the anatomical details of the body, scalloped head, bordered lotus, halo-behind the head and the Srivatsa symbol on the chest can be compared with the several known Tirthankara images in the Mathura art. The two deva chauri-bearss weaing ardhoruka, Uttariya and ornaments including the typical mukuta are also noteworthy. The pedestal shows in the centre the cakra symbol flanked on each side by a lion with the tail raised. One type of the coins of Ramagupta bear the figure of a lion with the tail raised similar to this.

These Tirthnakara images are carved in the round, indicating the back of the Tirthankara and those of the draped figures of the two attendants. This feature is imitated from the well known Mathura device. The stone of these three images is the local sandstone of Vidisha. The palaeography of the Brahmi Script on the pedestals is similar to that occuring in the Udaigiri and Sanchi inscriptions of Candragupta Vikramaditya.

During the Gupta age the art of carving and installation of Tirthankara images continued, although the extant examples are only a few. The Jina image carved during the reign of Kumaragupta I in cave no.20 of Udaigiri near vidisha can be mentioned in this connection. It has the usual characteristics of the Gupta Tirthankara images known from Mathura, Kaushambi and other sites in the north India. A Tirthankara image from Sira hills (near Sabha in the Panna dist.) datable to about 500 A.D. is another important Gupta sculpture. Mention may here be made of Deogarh (now in the Jhansi dist.). During the Gupta age Deogarh became an important centre of art. The Dasavatara temple of Visnu, with its artistic statuary, is well-known. Near the Dasavatara temple on the hillock a Jaina establishment was set up during the post-Gupta age. Several Jaina temples with quite a large number of icons were built up here upto the 12th century A.D. This Jaina centre at Deogarh did considerable work of diffusing its religious tenets in the region around. The temples and art-relics at Chanderi, Dudhai,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Chandpur and other sites, indicate this. The Bhattaraku cul t had its predominance at Deogrh for quite a long time.

The rise of the classical Gupta art of central India can be associated with the reign of Candragupta Vikramaditya . Under his patronage monuments and sculptures abiding beauty were carved at Udaigiri, Sanchi, Eran, Pawava and Tirgwa. These were followed by Similar art-relics at Bhumra, Nachna, Tumain, Unchehra, Mandaur, etc. The classical traits are discrimnible in the few Jaina images of the Gupta age and also of the Gurajara-Pratihara period in the region of Madhya Pradesh. There relics can be seen in the Gwalior, Dhubela and Indore Museum sand also at Vidisha, Badoh and Pathari.

The Medieval Jaina art has the usual charactcrestics of profuse ornamentation and iconometry. The iconographic details of the Jaina pantheon had been worked out by now and the artists were compelled to pay more attention to the pres-cribed iconic norms than to the aesthetic sense of composition. The richness of the contemporary Jaina community and the pat-ronage received from the rulers contributed to the mass develop-ment of art in various parts of Madhya Pradesh. The numerous temples and sculptures from Khajuraho, Ajaigarh, Mohendra, Chanderi, Abar, Terhi, Damoh, Ujjain, Gandhrawal, Gyaras-pur, Bhanpura, Gwalior and several oth r sites, funnish a rich material for the study of iconographic details.

The Chandellas were great patrons of art. Not only at Khajuraho but also at their other centres viz. Ajaigarh Mahoba and Kalingar, Jaina temples and sculptures in large numbers were made. As regards Khajuraho, it may be mentioned that the Saiva, Sakta and Vaisnava cults were more prominent there for quite a long time. It was at a later stage that the Jaina acharyas settled at the eastern group of temples and established their centre there.

The Medieval Jaina art of Madhya Pradesh has almost the same merits and demerits which we notice in the contemporary art of the region associated with other religious pantheons.

****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

A PLEA THE RESTORATION OF AESTHETICS TO THE CONSIDERATION ON JAIN-ART

BY: MICHAEL MEISTER

Jainsism, philosophically and artistically, has been illtreated by western scholars, who have found its philosophy too negating and its art too dry. Still, today, the vast and excellent scholarship of the Jain community remains a largely sectarian activity which has only begun to gain the respect of outside scholarship and to promote a truct understanding of the warm, worldfulfilling, and vital religion which Jainism proves to be in living fact.

As Hindu art was denegrated in the last century, however, for its mutliarmed monstrousities and lack of European realism, so also Jain art now continues to be condemned for a finicy "dryness", "stiffness", and "lack of imagination" which some critics see as its primary divergence from the Hindu art around it.

Such a view is neither critical nor fait, neither scientific nor historically aware. Jain art has been from region to region dependent on regional art styles whose merits and demerits are not those of the Jain faith; and the iconic stiffness of Jain images no more can be an aesthetic criterion than the many arms of nataraj - both are only the vessel, the composition and form, into which artistic expression must be fitted.

To critically determine the aesthetic merits of Jain art we must, in each instance, be able to place it in relation to its broader style, and in relation to its iconic demands- only then can we determine the success of the image(or temple) or that quiet shading which separates Jain from Hindu art in the same style.

To repeat: first we must understand the local style in which each example of Jain art has been expressed; than the ritual and iconic demands which the image must fulfil; before we can judge the aesthetic success of a Jain image or temple and the degree of divergence in achievement and intent - it has from Hindu art at the same time.

Archaeologym and its attention to discriminating details of region and history, can aid tremendously in laying the the ground for aesthetic appraisal of Jain art. On the other hand, the discipline of archaeology has often been the excuse for avoiding aesthetic considerations all together. Field archaeology, the study of texts, and the integration of both into the fabric of historical study is necessary preparation for an aesthetic evaluation of Jain art, specifically because Jain "art", like Buddhist "art", is not, like Roman or Greek or Renaissance(or for that matter, Pratihara, Chalukian, or Cola)art, determined by the development of a style, but rather is the expression, in various styles, of a cultural and philosophic point of view. The fluid, and not the vessel, determines "Jain" art. Whereas the vessel controls the fluid content determines colour.

Thus, again, archaeology and history are necessary in evaluating the "Jain" Qualities in a piece of art because that "Jain" quality can be corectly judged only in relation to a particular historical or regional art style, not common to all "Jain" art and of which "Jain" images are but a

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

variety. To talk of commonality of Jain art without full references to the fabric of local styles in which Jain art was expressed is to negate history and destroy judgment.

Quality, of course, will exist within each style independent of Jain or Hindu affiliation. We have seen in this seminar several examples of Jain art that are great art by any standard, and great art within their style and their period. But there are also qualities (as opposed to quality) which are better expressed by more appropriate and better suited to, Jain rather than Hindu images in the same style, and certain formulas, as the Kayot Sarga mudra, which have artistic and compositional implications(and qulities)beyond their iconic or ritual requirement.

Thus to aesthetically eraluate the Jain quality of Jaina art we must follow a certain methodology:

1. First we must understand the local and historical style the object exemplifies.
2. We must know the iconic and ritual requirements of the image.
3. Within the limits of style and ritual we must evaluate the aesthetic quality of the image as well as its level of craftsmanship.
4. In evaluating aesthetic effect, both in terms of iconic necessity and the broader style, we must try to sense those shades of quality and that special flavour which makes Jome of the best of Jain art a rare and distinguished art distinct in subtle ways, and experienced differently, from non Jain art of the same style.

We must again point out that if there is any commonality in these subtle flavours I have attributed to Jaina art, it is a rare and difficult to determine factor indeed; for Jain art in different styles has exploited different factors unique to each style to produce not always at all similar effects. If there be a common flavour linking such differing effects at all, it would have to be found in the flavour of Jain philosophy itself.

We may perhaps discuss briefly a few examples: We often think of the famous temple at Halebid, repleat as it is with finely wrought and finicky decoration, as representative of the taste of Hoysala art. There is another strain, however which even underlies the Hoysalevara's excess decoration, which is chasstelyarchitectural, derived as it is to some extent from the exteme refinement of late chalukian architecture with its high emphasis on balance and precision in architectural decoration and its avoidance of sculptural ournament. This chaster strain architects chose for the Jain temple at Halebid-yet they made it chaster still, and work d its balance of balanced architectural forms to a degree no other Hoysala temple would attempt. The open mandpa in, with its thin, tall, elegantly spaced and preportioned pillars has a chastity no other pillared structure in India achieves. And balanced against the repetative rhythm of the temple's plain, pilastered walls, and the open mandapa in front, the latheturned pillars of the interior, fat with their high polish, have an effect as rich as the flesh of a broken pomegranate, an effect achieved through absolutely abstract means.

A similers use of simplicity occurs at Vijayenagar, where several "Jain" structures stand on the great rock face which

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

overlooks the Pampapati temple. These structures, among the earliest at the site(late 14th c.) are still among the latest structured to reflect a chalukian idiom here archaic, yet so abstracted in its simplicity of form as to create a new idiom-perhaps the most austerely abstract pure architecture in India.

Ranakpur, in Rajasthan, of the 15th century, is high contrast, with its prolix decoration and proliferation of interior spaces. It examplifies, in fact, one of the few styles in India which is uniquely Jain and where the architectural complexities which mank it apart from the Solanki style which precedes it, develop directly out of the requirements of Jain community and ritual.

A final example, that of certain Jain sculptures from central India of the late 10th and 11th century also, by contract, shows a Jain art using prolific decoration and filigred carving, rather than plainness or abstraction, to carry out its austere vision. Central Indian sculpture of this style have a high refinement of carving, metallic, heavily undercut and perforated, and are greatly detailed. Certain Jain images(and one of the late 10th century exists on the verandah of the archaeological section at Kaiserbagh) use this refinement of form to produce tirthankaras of exquisite poise, and utilize the under cutting and fine detail of the style to surround the tirthankara with a vibrancy of detailed shadow which acts as the velvet casing for his crystal gem.

A further elaboration going beyond the style in a Jain way, to formed in several instances though adaptation of the Chaumukhi pratima making this highly three dimensional style three dimensional in fact, an example at Indor, near Kadwaha in Madhya Pradesh, where the Chaumukhi pratima has become a shrine itself, hollow in the center, the four Tirthankaras set against shadow, enshrined by a full four-faced web of filagree, is one of the most highly decorative, yet most stable and balanced, products of Indian art.

****

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

Valedictory Address : Dr. Motichandra

Ladies and Gentlemen.

In the two interesting days of this seminar, you have all gathered here with certain purpose, that is, to discuss various elements of Jain art and try to estimate its place in the development of Indian art. Naturally, the lion's share goes to iconography, which I am afraid, has become the bugbear of Indian art history. Buddhism, Jainism or Hinduism all are treated from iconographical point of view. I do not criticize anybody because after all "iconography is in the air and you cannot help without iconography. So most of the papers, which you have heard concern with iconography, to various details, identifications and going sometimes to the text to find out the proper meaning of the iconographic forms. I do not deny the importance of the iconography. Iconography as a matter of fact, is the hand maid of Indian art history, because if you do not understand the forms then their significance in particular icons is lost. So it helps in understanding certain forms. But unfortunately, iconography today has degenerated into the study of forms, innumerable forms, which exist, and as you know, as time advances in the Indian history the forms multiplicate. Look at the text, you can judge these things from the textual elements. The later the texts are the number of the iconographical forms are multiplied. It has got its importance but when you come to art history the question arises that after all what all these things mean ? What has it got to do with general development of the art history ? What contact these things have with the religions development ? It is very important why in a particular period you get so many varied forms ? Why, for instance, I am quoting from Hindu iconography that the Vaikuntha-murtis are only confined to the mountaineous areas, only, some forms have come down to Rajasthan and Western India and so on so forth ? This is very natural question and connected with your iconography. But I haveyet to findout scholars who want to interpret iconography in context with the religious development of the period or how far the social set up of the particular period has given birth to those forms ? Here I may tell you that iconography can be only studied in proper light if it is studies from the point of iconology. Iconology today is a science. Banaski has given it a definite basis. How to approach particular iconographic forms and what these iconographic forms tell you ? It means that you have to explore the entire backgrount social, religious and symbolic. When you study these forms in this context, the meaning is much more clear and our contribution to the knowledge of Indian art is doubly enhanced. Here, the difficulty in the study of iconology is really very great. I do not know whether there is any University in this country where you have professors who have taken this subject-iconology from the point of view from which Banaski has laid the entire picture before you. What I mean to say, is that in many of your Universities you have got paper on iconography ? Hindu University, has one I do not know if other Universities, have or not. But in the paper of iconography you are simply asked the difficult forms and so on so forth. It is related to the questions, to the problems, which iconography sets itself to solve. For instance, in the medieval period you find different Buddhist forms, the Tantric forms, the Vajrayani forms and the Shakti forms. How these religions have interacted on one another ? how they have tried to absorb the elements form one religion, to another ? How they have tried also to imbibe, the idea, the philosophical basis on which these forms have based. It is the real lesson which Iconology can teach you. It is not merely the forms which matter or the sadhana-malas which are of interest. After all Sadhana-malas are just a sort of grammer of iconography. But what is the basis on which these Sadhanas should be studies ? What is the basis on which all the

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

different kinds of iconographic concepts, which you get, in the Medieval times, not only in Hinduism but in Buddhism and also to certain extent in Jainism, stand ? How to explain them ? If your study is unrelated, to the religions or religious ideas which they propounded, then I am afraid, the study is bound to be incomplete. Every chile here now sweares by iconography. I get nearly thirty thesises per year for examination, out of which, you will be surprised, that twenty are on iconography. What more you can see, some man writes on Visnus forms. It is almost , indefinite. It makes no contributions to the knowledge and therefore I may suggest that those who are really interested in iconography, should acquire the instrument by which one can study iconography. Proper equipment is very necessary and that, I am afraid, can only come if you have the proper knowledge of the languages. No translation can ever help, I can assure, and the translations I have myself gone through are badly edited. To learn language in these hard days of economics and politics is a bitter pill to swallow. It is ver hard thing to do and it is not arthakari Cha Vidya. It does not give much economic aid, after all, every knowledge is advanced by some, who unmindful of what is in store for them, carry on the beacan light of learning. Therefore in my opinio you should study iconography by all means but study it in the light of what I have humbly suggested to you. Our days are now over and it is now for the younger generations to carry on a little work which we have tried to do. It will take you several generations, I am afraid, before you put history of Indian art on sound footings. But preparations have yet to be, made and you are all working in that direction. It is a corporate effort of scholars which in future will lay down the foundation, the true foundation for the Indian art history which remains to be written and which may take several years or several generations for the preparation.

Another point I would like to put before you; I wanted somebody here, to give you a development of Jain paintings, You have heard much on iconography. Iconography at its best is a very dull subject, but when you are face to face with the colours, the lines, the perspectives, the landscapes and such elements which constitute pictorial art your aesthetic appreciation gets better fulfilment. I am very sorry that I have no slides to show you. I thought that if Anand Krishna was to come here, he would have brought all the slides to show you. Right from the end of the 15th century to the 16th century, the Jain paintings carried on the traditions, which to all purposes everywhere in India specially in Northern and in Western India- were dead. Therefore, there is hardly any doubt that the Jain paintings, (I do not agree with the nomenclature " Jain painting", but we have to call it so because most of the paintings are pertaining to Jain subjects) have carried on the tradition which was lost by the 8th or 9th century, at the most. In western India, in Rajasthan and probably in Uttar pradesh, as well, this tradition was being carried on very vigorously. In eastern India the Palas and the senas carried on the tradition of the Indian art. In Western India it were the Jains and the Jain Bhandaras which carried on the tradition. Though technically there are differences in the eastern and western schools, the purpose is the same- to illuminate the manuscripts and to reinforce their magical character. They were worshipped, they were not appreciated as in Mughal manuscripts which form a rich heritage of the Mughal libraries. Coming down from generations they were carefully stored in the Bhandaras and were brought out time to time on Jnana Panchma and other festivals in the Jain and Buddhist monasteris and were worshipped. We have got several manuscripts from Eastern India, which are thick with sandal-wood paste and sindura. That means, they were also worshipped and the paintings were regarded as sacred. Somehow or the other the paintings were associated with the very concept of the deities which they

---- 3.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

portrayed. I do not want to give you a long history or a long lecture on Jain paintings but one thing is very apparent, if you study the Jain illustrated manuscripts, and that is their linear character, which looks rather strange, if compared with the Mughal paintings. But the tradition which was in the beginning after colour modelling had gained this linear character with the protrusion of the further eye, application of the basic colours and the limited number of the figures in the composition, without any idea of any perspective. These were basic characters of this tradition.

One thing I want to point out. People think that this linear character in paintings is of late development and that the colour modelling technique was earlier one. But during my studies of Visnu-dharmottara, which I regard, as a very early text, 6th century I would place it, both the techniques are given simultaneiously. You remember that verse Daurdaryain Sthula Lekhatvani abhibha-k'ani and all that these things pertain to this technique. Sthula danda lekhatvani ? and all that. This is exactly the same thing and if you see Ajanta paintings specially, in caves no. 1 and 2 you will find this linear technique existing side by side with the colour modelling technique. Of course, Visnu-dharmottara had a partiality for colour-modelling and it regarded the other technique as durbalata. But this is the point of view which you should think over. There are certain scholars who regarded these paintings, of linear character, as belonging to a later period, sometimes they are tring to pull down the date of the Ajanta paintings to the 10th century, but that is not so, because, several techniques may exist at the same time.

Another point about this western Indian technique is the introduction of Persian elements which is very important indeed, because in the later period this gave birth to the great Mughal school which subsisted almost for three hundred years. The Jains in Kalakacharya Katha, were first to introduce the Persian figures. Where they have got their proto-types ? Did they portray the Turks as they existed or whether they were acquainted with certain Persian illustrated manuscripts ? The possibility is this, they were acquainted with certain Persian manuscripts. Mind you, this type only exists in the Kala-kacharya-katha, nowhere else, not in the Kalpa-sutra manuscripts, because, religious subjects like the Kalpa-sutra, theoretic in nature, did not require any foreigner and therefore he does not appear there; but for the Shahis in the Kalakacharya-katha they had to find some foreigners. They could not do without it. Therefore, they did find a foreign type from some Persian manuscript.

Another very important thing, that was happening in the fifteenth century say the middle of the fifteenth century, was that the compositions were becoming more elaborate and ... here the Jain wealth played its own part. Some most magnificently illustrated manuscripts must have cost money. For instance take the Devasana-Akhara manuscript, with border illustrations, large number of border illustrations, in which you, can study the contemporary history of art not only art but of the people influenced by a foreign culture. These are the only documents, because, contemporary literature, even, the Persian literature, even Persian historians have not preserved those interesting details of culture as these manuscripts have done. Immense wealth was bestowed on these manuscripts. Lapis Lazule, gold carmine were three very very costly colours, all imported from Persia, which, were used in illustrating the manuscripts. Not only that the letters were in gold, but also the background was in carmine or Lapis Lazule. Every effort was made to make these manuscripts as things of beauty and no wealth was spared in order to gain that end. In that way, the contribution of the Jains was of

---- 4.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

outstanding merit. There is absolutely no doubt, that for the study of Indian paintings from the thirteenth to fifteenth century, sixteenth century, you cannot do away without the Jain paintings. A lot of controversy has risen about origin, I am afraid I am taking a lot of time, but just a few minites. A lot of controversy has arisen about the origin of Rajasthani paintings. One party definitely held that Rajasthani painting was the outcome of the Mughal paintings when the Mughal painters, the Mughal ateliars turned out large number of paintings. At first my frient Mr. Khandelawala who is a great art historian, did not believe that it was possible but we are getting documents now, which I have discussed in one of the books I have recently published, It, definitely proves that art activities in this country never stopped. The view point changes, the techniques changes, but the tradition persisted and in that tradition Jain Art, Jain paintings, played a very important part. So far, all these documents were coming from the Shvetambara Jain Bhandaras. Most of the Jain manuscripts which have seen the light of the day have come from Svetambara Bhandaras and, here, I must tell you, that they were much more libral in their approach than the Digambaras.

There is no critism but I am stating you the true facts. They without hesitation give for use their manuscripts and the name of Muni Punya Vijaya would be ever remembered by the studeents of Jain Paintings, who was ever ready to help you with any suggestions, with any manuscript. In this connection I will tell you my own experience. The famous Jaunpur Kalpasutra, which is a very important document for Uttar Pradesh, the only document of the 15th cent., shows that, even in this part of the country, art was progressing, painting was being done and at least at Jaunpur there must have been a Jain Bhandar under whose agesies the paintings were being done. This Kalpasutra which was done in 1465 is of great importance, not from the point of view of the iconographical details or some more compositions, but from the point of view of the art history, itself. It shows that by 1465 the early Rajasthani tradition was emerging though the protrusion of further eye still persisted and therefore I am telling you that such kinds of documents were of great interest.

A girl came to me and wanted to work for her Ph.D.-Mrs. Saryu Doshi, coming out of a very good Jain Digambara family. The topic chosen by her was a time-taking one I do not believe in cheating. Some of my students are not every much pleased with my attitude. They say, in that University one gets in two years, you take seven years. I say, it does not matter. Let me be at fault. Mrs. Doshi worked on the Digambara Jain Manuscripts and I can assure you she was able to collect wonderful material, I think she is very fortunate to be a Digambara Jain, otherwise, it is very difficult to see the manuscripts. She brought manuscripts after manuscripts. Before her, I was able to see only one manuscript of Mahapurana dated 1530. Another manuscript I have published which was done at Delhi. I first thought it to be of the end of 15th century, but definitely now I think, it is of middle of 15th cent. But she has broght so many manuscripts that I was surprised to see their quality and the work they have done. The great difficulty with Jain Bhandaras is, this, that, you cannot find out whether the manuscript is illustrated or not. No body writes that. They will write only the description of the manuscripts. So, she went on my bidding from collection to collection and I can assure you that the material she has brought has definitely added a new chapter in the history of painting. What contributions the Digambara Jains have made ? I am telling you, from the dated documents right from 1404, and the earliest manuscript is dated in 1404, it goes on to the 17th cent. The Manuscripts of Maha Purana,

---- 5.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Jashara Chariu, and so on and so forth have very interesting material. So, it absolutely contradicts the fact that only a particular Jain Community was doing paintings. It seems that Maha-purana was as sacred to the Digambara Community as Kalpasutra to the Svetambara community. At least five or six illustrated early Maha-puranas we have been able to find out. I am trying to get all the material published and if that material is published you will definitely see that what efforts were being made by different Jain Communities, in India, for the propogation of Art. Perhaps it was not deliberate effort, but all the same it was an effort, in the cause of religion, but, whatever material has come down to us, or, survived, and how much of it has been destroyed, we do not know. Whatever material has come down to us shows that the Jains-Svetambaras and Digambaras have played their part in the evolution of Indian paintings. In the Sultanat period, when all art, practically, was dead, and, the Jain were perhaps very fortunate. They were the merchants, and could carry on their vocations even with the specific conievance of the State, which apparently they did contemporary Jain documents which have come down to us are of great value.

Ladies and gentlemen I could go on multiplying because after all forty or fifty years have been devoted in different spheres of art, now only paintings, but, sculptures, symbols, coins and inscriptions. Our case when we joined this profession was very peculiar. There were very few people to carry on the work, and, when I joined the museum, all kind of work, came to me and I tried to cope with that work, as much as I could. I had in those days great cooperation from Dr. V.S.Agrawala, who unfortunately, is not now with us. The whole idea of sholarship in his time was this that to know Indian culture you should try to explore many branches of this culture. You cannot be specialist in all the branches but you should know the forms. My coming to Jain art, Archaeology was purely accidental. A student, now a professor and retired professor too, came to me and his subject was some social aspects of Jain culture in canonical literature. I knew now a word about Jain culture, at that time, but, some how or the other I agreed to take up that work. You will not believe, it took me two years of hard work and that I was very fortunate. I do not regret those years because I have learnt much from Jain literature. Jain literature, though, very dry, has material hidden here and there, which is of absolute interest, of great interest, for the study of Indian culture. Unfortunately, the texts have not been properly edited. Now they have started bringing out the critical editions but once all this literature is edited properly or in the hands of scientists, sufficient material will be available, but most unfortunate part of this is that if editions came the Bhaktas take away the whole thing. The scholars get nothing. This I am telling you from my own experience. Do'nt you agree with me ? It goes into the safe cupboards of the gentlemen about whom you do not know. After all you can bring out only 500 copis, 1000 copies. The Bhaktas porlion 990. Most of the libraries are without any texts. Now Brehat Katha Kalpa Sutra, you see, absolutely a first rate work--I asked Bombay Library, it has none; Royal Asiatic Society they do not have it. So that is the trouble, your efforts should, be, to make these texts available at least to the Universities and the bigger libraries of the country. Foreign libraries are absolutely deficient in these texts. You see, I got off and on enquires from them, but I hope that you people have made a beginning and great Muni purya Vijayaji, and his gurus and his disciples have done venom work in this field and I do hope that the 2500 anniversary is coming, you will always bear in the mind that the lesson of these 2500 years is not lost in the only out word shows but that you are able to do something concrete, so that, in the field of Jainology there is sufficient material available which could be helpful to generations to come. Ladies and gentlemen being an old and garolous fellow I have taken a lot of your time and for which I crave your indulgence and I thank you very much for very carefully hearing to me.****Thank you............

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4274.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७

आलमारी संख्या ——

१९

खाना संख्या ——

विभाग

बंडल संख्या ——

फाइल की संख्या

क्रम–संख्या

फाइल का शीर्षक

विभाग	संख्या	सम्बन्धित फाइल विषय

श्रेणी ———— क्रम–संख्या ————
स्थायी रूप से रखा जाय

श्रेणी ———— क्रम–संख्या ——
मास ———— १९ ——— तक रखा जाय

पी० एस० यू० पी०—७ | [illegible]—१९ [illegible] (१ [illegible] बार)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4274.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७

आलमारी संख्या ——

१९

खाना संख्या ——

विभाग

बंडल संख्या ——

फाइल की संख्या

क्रम–संख्या

फाइल का शीर्षक

विभाग	संख्या	सम्बन्धित फाइल विषय

श्रेणी —— क्रम–संख्या ——
स्थायी रूप से रखा जाय

श्रेणी —— क्रम–संख्या ——
मास —— १९ —— तक रखा जाय

पा० प्र० मु० पा०—७ | [illegible]—१६ [illegible] (१ [illegible])

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh